इकाई – 1. हिन्दी साहित्य का आदिकाल

इकाई की रूपरेखा

1.0. उद्देश्य
1.1. प्रस्तावना
1.2. हिन्दी का उद्भव
1.3. हिन्दी रचना की पहचान
1.4. हिन्दी साहित्य का आरंभ
1.5. हिन्दी का प्रथम कवि
1.6. हिन्दी की प्रथम रचना
1.7. आदिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि
1.7.1. राजनीतिक स्थिति
1.7.2. सामाजिक स्थिति
1.7.3. धार्मिक स्थिति
1.7.4. सांस्कृतिक स्थिति
1.8. आदिकाल के साहित्यिक सामग्री का वर्गीकरण
1.9. सिद्ध साहित्य
1.10. जैन साहित्य
1.11. नाथ साहित्य
1.12. रासो साहित्य
1.12.1. पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता
1.13. लौकिक साहित्य
1.14. गद्य रचनाएं
1.15. अमीर खुसरो
1.16. विद्यापति
1.17. सारांश
1.18. अभ्यास प्रश्न

1.0. उद्देश्य :

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- हिन्दी साहित्य के आदिकाल को जान सकेंगे
- हिन्दी भाषा के उद्भव विकास को पहचान सकेंगे
- हिन्दी साहित्य के आरंभिक काल को, प्रथम रचना, प्रथम कवि को जान सकेंगे
- आदिकालीन साहित्यिक पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे
- आदिकाल के उपलब्ध साहित्यिक सामग्री का वर्गीकरण जान सकेंगे
- पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता के आधार को समझ सकेंगे

1.1. प्रस्तावना :

आदिकाल :

किसी भी भाषा या साहित्य का उद्भव एक निश्चित तारी से नहीं होता। वह एक कालखण्ड होता है। एक पुरानी भाषा से दूसरी नई भाषा का उद्गम होता है। वास्तव में भाषा का असली रूप जनसाधा की बोलचाल की भाषा ही है। जब उस बोलचाल की भाषा को साहित्य र में लगाया जाता है तो वह साहित्यिक भाषा बन जाती है। भारतीय भ परंपरा पर ध्यानपूर्वक दृष्टि डालें तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी। वेदो की भाषा तत्कालीन जनता की भाषा का साहित्यिक रूप है। उसे छान्द कहा जाता है। इसका विकसित रूप संस्कृत है। इसी प्रकार संस्कृत से पा प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का विकास हुआ। भारतीय भाषाओं के विक के इन चरणों को निम्न रेखाचित्र से समझा जा सकता है –

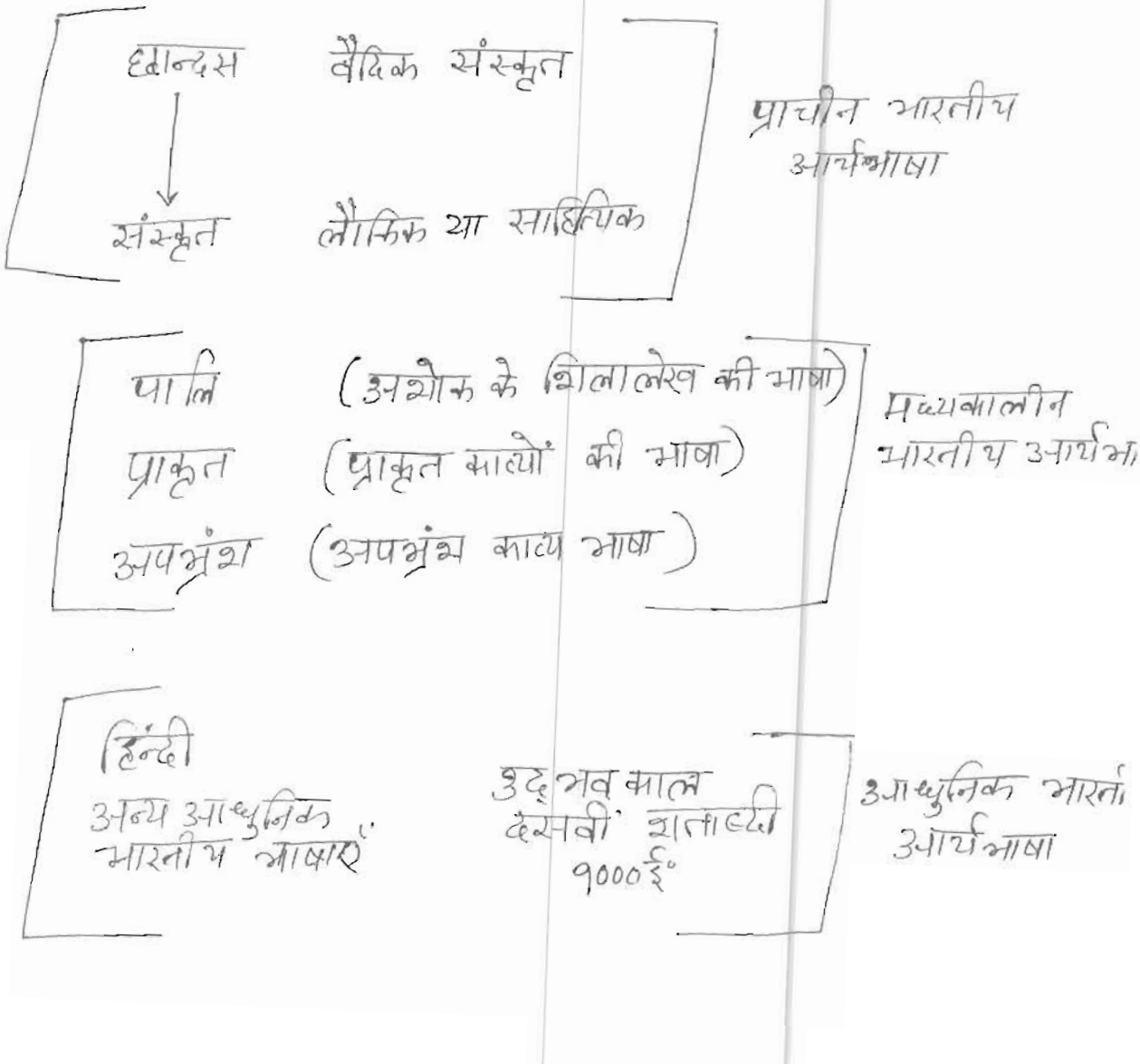

1.2 उद्भव :

स्पष्ट है कि अपभ्रंश भाषा मध्यभारतीय आर्यभाषा की अंतिम कड़ी यही आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की जननी है। हिन्दी का सीधा संपर्क अपभ्रंश है। यह आश्चर्य की बात नहीं कि स्वयंभू और पुष्पदंत जैसे कवियों ने अप रचना को 'ग्रामीण भाषा', 'देशभाषा', 'लोकभाषा' आदि कहा है। ऐसे ही जगन्नाथ उपेन्द्रभंज आदि ने अपनी रचना को प्राकृत कहा है। इसका कारण स्पष्ट है प्रत्येक युग में एक साहित्यिक भाषा होती है और अनेक लोकभाषाएँ या बोलिय होती हैं। लोकभाषा जब साहित्य में प्रयुक्त होती है तो लोकजीवन से रस प्र करती है। तब तक लोकभाषा आगे बढ़ जाती है, अधिक परिवर्तित या विकसित होती है। भाषा में परिवर्तन आना ही विकास है। जब संस्कृत साहित्यिक भाष थी तब प्राकृत लोकभाषा। जब प्राकृत साहित्यिक भाषा हो गयी तब अपभ्रंश लोकभाषा थी। यह लोकभाषा साहित्य में प्रयुक्त होकर अपभ्रंश बन गई। तब आधुनिक भाषाएं जो जनता की कथित भाषाएं थीं, उनमें साहित्यिक रचना होने ल इस प्रकार हिन्दी का प्रारंभ काल अपभ्रंश और नई भाषा हिन्दी दोनों का रचना है। अर्थात् देशभाषा से अलग होकर साहित्य में प्रयुक्त अपभ्रंश परिनिष्ठित गई। अपभ्रंश की रचनाओं में यह भाषा मिलती है। लेकिन इधर नई देशभ और अपभ्रंश के मेलजोल से दूसरी भाषा विकसित हो रही थी। इसे कुछ विद्वानों ने बाद की अपभ्रंश या उत्तर अपभ्रंश, प्राकृताभास हिन्दी, पुरानी हि अवहट्ठ आदि नाम देने लगे थे। आचार्य हेमचन्द्र ने दो प्रकार की अपभ्रंश भाषा की चर्चा करते हैं। प्रथम प्रकार की अपभ्रंश जिसका व्याकरण उ स्वयं लिखा और दूसरी अपभ्रंश को ग्राम्य भाषा कहा है। बौद्ध सिद्धों के दे और 'संदेश रासक' आदि इसी ग्राम्य भाषा के उदाहरण हैं। ग्राम्य भाषा में रासक, डोम्बिका आदि लोकप्रिय गेय पदों में लिखे जाते थे। यही भाषा आग चलकर हिन्दी भाषा के रूप में विकसित हुई। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हेमच के ग्रंथ में आए हिन्दी का रूप लिए दोहों का उदाहरण दिया है। जैसे -

भल्ला हुआ जो मारिआ बहिणी म्हारा कन्तु।
लज्जेज्जो बयस्स मह जइ फिरि घर एन्तु॥

उन्होंने ठीक ही कहा है - अपभ्रंश या प्राकृतभाषा हिन्दी का सबसे पुराना तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की सांप्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम के सातवीं शताब्दी (ईस्वी छठी मध्यभाग) के अंतिम चरण में लगता है। इन सिद्धों की चर्यागीतों में पूर्वी अपभ्रंश और दोहों में पश्चिमी अपभ्रंश के रूप मिलते हैं। इसी से पता चलता है कि अपभ्रंश का रचनाक्षेत्र कितना विस्तृत पूर्व के पाल राजाओं के राज्य में, राष्ट्रकूट राज्य में, गुजरात में अर्थात् देश के सभी क्षेत्रों में अपभ्रंश में रचनाएँ होती थीं और क्षेत्रिय रूप की झाँकि उसमें स्पष्ट दिखाई देती थी।

इस प्रकार उस समय के जैन साहित्य में भी हिन्दी का रूप उभरकर आने लगता है। जैसे —

मूल छडि जो डाल चढि, कहँ तह जोया आयसि।
चीसग बुणणहँ जाइ बढ, विणु अद्दिई कपासि॥

जड़ को छोड़ जो डाल पर बैठा है, उसके लिए योगाभ्यास कहाँ? क्या रुई को ओटे बिना कपड़ा बुना जा सकता है।

एक बात और लक्ष्य करने की है कि इस आरंभिक हिन्दी भाषा अनेक रूप मिलते हैं। क्षेत्र, अनुभूति आदि इस भाषा-भेद के कारण हैं। नाथपंथियों की रचनाओं में विभिन्न क्षेत्रीय भाषा के रंग झलकते हैं। सि की भाषा की विविधरूपता का जिक्र किया जा चुका है। राजस्थान की हिन्दी 'डिंगल' नाम से प्रसिद्ध है। श्रीधरकृत 'रणमलछंद' और कल्लोल कृत 'ढोल मारुरा दूहा' इसके उदाहरण है। ब्रजभाषा के क्षेत्र में 'पिंगल' भाषा में रचनाएँ होती थी। 'हिन्दवी' में तेरहवीं शती में अमीर खुसरो ने रचन की है। वास्तव में इस भाषा का वह रूप है जो उस युग की सामान्य जनता प्रयोग में लाती थी।

अनेक विद्वानों ने हिन्दी भाषा के आरंभ के साथ ही हिन्दी साहित्य का आरंभ स्वीकार किया है। आरंभिक हिन्दी और उसमें रचित साहित्य के संबंध में डॉ॰ नगेन्द्र ने इतिहास में लिखा है —

"इस भाषा (आरंभिक हिन्दी) का विकास एक जनभाषा के रूप में हुआ है। कोई भी जनभाषा अपने प्रवाह की अक्षुण्णता में सदा एक रूप नहीं रह सकती। स्थान और काल भेद से उसमें रूप भेद भी उत्पन्न हो जाता है। किंतु जबतक उन रूपों की तात्विक समानता सुरक्षित रहती तबतक वे एक ही भाषा का बोध कराते हैं।"

हिन्दी का क्षेत्र विशाल है। इसलिए अन्य आधुनिक आर्य की तुलना में उसमें अधिक विविधता है। यह आश्चर्य की बात नहीं है।

1.3. हिन्दी रचना : कैसे पहचाने ?

अपभ्रंश साहित्य और आदिकालीन हिन्दी साहित्य के बीच क्या अं है। किन लक्षणों के आधार पर दोनों की पहचान हो सकती है ? इस विभाज को स्पष्ट समझने के लिए भाषा के और उसके व्याकरण के कुछ वैशिष्ट्य हैं। भाषा की स्तर पर पहचान की ये कसौटियाँ हैं —

1. शब्दों में क्षतिपूरक दीर्घीकरण : जैसे -

संस्कृत →	प्राकृत - अपभ्रंश →	हिन्दी →
कर्म	कम्म	काम
कार्य	कज्ज	काज
हस्त	हत्थ	हाथ

2. परसर्गों की बहुलता : जैसे -

अधिकरण परसर्ग -

मन्झहि, मज्झे, मंझ, महि, मइ आदि

3. तत्सम शब्दों का प्रचलन :

अपभ्रंश में तद्भव रूपों का प्रयोग होता था। लेकिन दस शताब्दी में आर्यभाषाओं में, तदनुसार हिन्दी में, तत्सम शब्दों के प्रयोग बढ़ने लगे।

इन आधारों पर हम पुरानी हिन्दी को अपभ्रंश से अलग कर सकते हैं —

हम ध्यान दें तो दो तरह की रचनाएँ आदिकाल में मिलत

क) अपभ्रंश से प्रभावित हिन्दी रचनाएँ —

i) सिद्ध साहित्य
ii) नाथ साहित्य
iii) जैन साहित्य के कुछ ग्रंथ, जैसे -
भरतेश्वर बाहुबलि रास आदि
iv) लौकिक साहित्य, जैसे -
राउलबेल, वर्णरत्नाकर
v) रासो साहित्य, जैसे -
हम्मीर रासो ।

ख) अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त रचनाएँ :
i) रघुमाण रासो, परमाल रासो, चंदनबाला रास, स्थूलिभद्र रा
रेवन्तगिरि रास, नेमिनाथ रास आदि
ii) बसंत विलास
iii) खुसरो की पहेलियाँ आदि ।

कुछ विद्वानों ने यह विवाद उठाया है कि जो रचनाएँ धार्मि
हैं, उन्हें साहित्य के दायरे में नहीं लाना चाहिए। आचार्य शुक्ल ने
ही जैनी ग्रंथों के संबंध में नीरसता, उपदेशात्मकता के आधार प
उन्हें साहित्येतिहास से निकालने का आग्रह किया है। लेकिन जैन ग्रं
में जीवन की सच्ची अनुभूतियाँ विद्यमान हैं। अतएव वे साहित्य के
दायरे में आते हैं। सिद्धों के साहित्य में क्लिष्टता, बीभत्स वर्णन है
परंतु उनमें भी अनेक साहित्यिक प्रवृत्तियाँ हैं। उन्हें छोड़ देने से
हानी होगी। दूसरा मुद्दा है, प्रामाणिकता का। कुछ ग्रंथ मूल रूप में मिल
हैं, कुछ में बहुत प्रक्षेप हुआ है। 'पृथ्वीराज रासो' जैसे ग्रंथ की
प्रामाणिकता को लेकर गंभीर प्रश्न उठाए गए हैं। परंतु ध्यान देने
से पता चलता है कि उसके कुछ अंश मूल ग्रंथ के कुछ निकट हैं
और प्रामाणिक लगते हैं। अतएव ऐसी रचनाओं का संपूर्ण परित्य
न करके उन्हें अध्ययन के दायरे में रखना होगा।

1.4. हिन्दी साहित्य का आरंभ :

हिन्दी साहित्य का आरंभ हिन्दी भाषा के साथ जुड़ा हुआ है। इस विकास जनभाषा के रूप में हुआ है। कोई भी जनभाषा अपने प्रवाह की अक्षुण्णता में हमेशा एक रूप नहीं रह सकती। स्थान और काल के भेद से उ रूप भेद भी स्वतः उत्पन्न हो जाता है किंतु जब तक इन रूपों की तात्विक सम सुरक्षित रहती है तबतक वे एक ही भाषा का बोध कराते हैं। हिन्दी भाषा भी स्थान और काल के भेद से अपने दीर्घ यात्रा में अनेक रूप धारण किये मगही, मैथिली, भोजपुरी, अवधी, कनौजी, बघेलखण्डी, बुन्देलखण्डी, ब्रज, खड़ी बांगरू, मेवाती, हाड़ौती, मारवाड़ी, मेवारी, ढूंढारी, मालवी, नीली, खानदेशी, पहा आदि अनेक रूप-भेद पाये जाते हैं; किंतु इन सबमें तात्विक विवेचना विद्यमान है। आज इन भाषारूपों को स्थान-भेद से स्मरण किया जाता है। किंतु काल- से भी इन रूपों में अंतर है। कुछ शताब्दियों पूर्व ब्रज या मैथिली भाषा के रूप आज यथावत् नहीं मिलता। किंतु तात्विक समानता के आधार पर पूर्वक के वे रूप भी ब्रज या मैथिली ही माने जाते हैं और इन सब रूपों में रचित साहित्य भी हिन्दी का ही साहित्य कहा जाता है।

अतः भाषा के रूप-भेद को भूलाकर तात्विक परिवर्तन के आधार पर ही एक भाषा के अंत और दूसरी भाषा के आरंभ का इतिह स्वीकार करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इसी दृष्टि से अपभ्रंश को एक अलग भाषा मानकर उसके तात्विक आधार पर भिन्न रूप में विकसि भाषा को पृथक नाम देने की आवश्यकता है। यद्यपि अपभ्रंश अपने मूल रूप में पन्द्रहवीं शताब्दी तक साहित्य की भाषा बनी रही तथापि आठवीं शत, से ही बोलचाल की भाषा के रूप में पृथक् होकर साहित्य रचना का माध्य बन गई थी। कुछ विद्वानों ने इसी भाषा को 'उत्तर अपभ्रंश' या 'पुरानी हि कहा है। कुछ विद्वानों ने इसे 'अवहट्ठ' नाम दिया है। परंतु वास्तविकता य है कि यह भाषा 'हिन्दी' है। उसे 'उत्तर अपभ्रंश' या 'अवहट्ठ' नाम देना भ्र उत्पन्न करना है। जिन विद्वानों ने ये नाम दिये हैं, वे भी अपने मत अंतर्गत प्रायः उक्त तथ्य का समर्थन करते रहे हैं। पहले विद्वान चन्द्रध. शर्मा गुलेरी हैं जिन्होंने इस उत्तर अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी कहा है यहाँ उत्तर शब्द काल का बोधक न होकर साहित्यिक अपभ्रंश से इतर बोलचाल की उस भाषा का बोधक है, जो साहित्यिक अपभ्रंश के रूप की स्वीकृति के पश्चात् उसके बाद के रूप में स्थापित होती जा रही थी।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने गुलेरी जी के लेख के आधार पर अपने इतिहास में आदिकाल के अंतर्गत 'उत्तर अपभ्रंश' की रचनाओं को यह मानते हुए भी स्थान दिया कि उनके आधार पर उस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारित नहीं की जा सकती। राहुल सांकृत्यायन ने भी 'उत्तर अपभ्रंश' की रचनाओं को हिन्दी की रचनाएं माना है। हिन्दी की प्राचीन कवि और उनकी कविताएं' लेख में उन्होंने हिन्दी कविता का आदिरूप नालन्दा और विक्रमशिला के सिद्धों द्वारा बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्व के प्रचार की भाषा में सिद्ध किया है। इसी प्रकार डॉ रामकुमार वर्मा ने भी 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में गुलेरी जी और राहुल जी के मतों को स्वीकार करते हुए उत्तर अपभ्रंश के कवियों को स्थान दिया है।

शुक्लजी के साथ कुछ-कुछ सहमत होते हुए भी डॉ श्यामसुंदर दास तथा डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी अपभ्रंश काव्य का विवेचन आदि के भीतर करते रहे हैं। द्विवेदी जी ने अपभ्रंश और हिन्दी के संबंध में इस प्रकार मत व्यक्त किया है:— "इस प्रकार दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल, जिसे हिन्दी का आदिकाल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का बढ़ाव है। इसी अपभ्रंश के बढ़ाव को कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिन्दी। ..... बारहवीं शताब्दी तक निश्चित रूप से अपभ्रंश भाषा ही पुरानी हिन्दी के रूप में चलती थी, यद्यपि उसमें नए तत्सम शब्दों का आगमन शुरू हो गया था।"

इस प्रकार द्विवेदी जी अपभ्रंश से हिन्दी को अलग रखना चाहते थे। फिर भी उन्होंने अपभ्रंश के उत्तरकालीन साहित्य को आदिकाल की सामग्री मानकर उसका विवेचन किया है। उनके वक्तव्य से यह सिद्ध हो जाता है कि 'उत्तर अपभ्रंश' हिन्दी का ही आरंभिक रूप है। उनके अनुसार अप में शब्दों के तद्भव रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति थी, किंतु जब उसमें तत्सम रूपों के प्रयोग के प्रवृत्ति विकसित होने लगी तब एक नयी भाषा का रूप उभ जिसे हिन्दी कहना चाहिए। वस्तुतः जनभाषा होते हुए भी हिन्दी की यही रूप ऐसी प्रवृत्ति है जो अपभ्रंश के बाद भी अबतक निरंतर बढ़ती रही है। अ जिन विद्वानों ने अपभ्रंश के अतिरिक्त 'अवहट्ठ' का झगड़ा खड़ा किया है, हिन्दी के आरंभिक विकास को उसके आगे की धारा से काट देना चाहते हैं यह ठीक है कि वे उत्तर अपभ्रंश को शुद्ध अपभ्रंश नहीं मानते, किंतु उसे आरंभिक हिन्दी न मानना एक भ्रम है। अधिकांश विद्वान् 'अवहट्ठ' को

पृथक् भाषा मानने के पक्ष में नहीं हैं। डॉ भोलाशंकर व्यास ने हिन्दी के आरंभिक रूप को ही 'अवहट्ठ' कहा है और यही अधिक समीचीन जान पड़ता है, क्योंकि जिसे कुछ विद्वान् अवहट्ठ कहना चाहते हैं, वही अपभ्रंश का ऐसा रूप है जिसमें हिन्दी की सभी आरंभिक प्रवृत्तियाँ एकसाथ मिलती हैं तथा साहित्यिक अपभ्रंश से जिसका गहरा विद्रोह झलकता है।

अतः हिन्दी-साहित्य के आरंभिकाल की सामग्री में उत्तर अपभ्रंश की सभी रचनाएँ आ जाती हैं। उन्हें हिन्दी साहित्य से निकाल कर अपभ्रंश के साहित्य में स्थान देना या 'अवहट्ठ' का नया इतिहास खड़ा करना उचित नहीं है। इसी दृष्टि से सिद्धों की रचनाओं से ही हिन्दी-साहित्य का आरंभ मानना युक्तिसंगत है। उनके साहित्य की भाषा अपभ्रंश के 'उत्तर-भाषा' रूप की सूचना देती है तथा साहित्यिक अपभ्रंश से खुलकर विद्रोह कर रही है।

साहित्य के आरंभ का निर्णय भाषा के आधार पर तो किया ही जा सकता है, इसके अतिरिक्त एक दूसरा तत्व भी है, जिसे हम साहित्य की चेतना कह सकते हैं। सिद्धों की रचनाओं में यह तत्व नए रूप में विकसित होता हुआ दिखाई देता है तथा अपभ्रंश के साहित्य से उसका खुला विद्रोह झलकता है। सिद्धों की वस्तुदृष्टि जिस धार्मिक चेतना पर आधारित है, उसका सीधा संबंध 'नाथ साहित्य' से होता हुआ हिन्दी की भक्तिकालीन कविता से जुड़ता है। अगर सिद्ध-नाथ साहित्य को हिन्दी साहित्य से हटाकर अपभ्रंश साहित्य में रख दिया जाय, तो हिन्दी का समस्त भक्ति साहित्य 'जड़' और 'तने' से कटे वृक्ष की तरह निराधार हो जायेगा।

अतः भाषा के विकास की आरंभिक स्थिति तथा उत्तरवर्ती धार्मिक चेतना के मूल रूप को ध्यान में रखकर सिद्ध साहित्य से हिन्दी साहित्य का आरंभ मानना पूर्णतः युक्ति संगत है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि उसके समानांतर लिखे गए साहित्यिक अपभ्रंश के ग्रंथों से उसे सावधानी पूर्वक पृथक् रखा जाए, क्योंकि कई विद्वानों ने दोनों को एक मानने की भूल की है। स्मरण रखना चाहिए कि कई सिद्धों ने एक साथ अपभ्रंश और 'आरंभिक हिन्दी' में रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। अतः ऐसे कवियों की रचनाएँ दो वर्गों में विभाजित हो जाती हैं और इसी आधार पर उनकी गणना यदि एक ओर अपभ्रंश साहित्य के इतिहास में की गई है, तो दूसरी ओर आरंभिक हिन्दी में भी साहित्य लिखने के कारण उनका नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास में आ जाता है। दो या अधिक भाषाओं में रचना करने की प्रवृत्ति बहुत समय तक चलती रही। विद्यापति का साहित्य इसका प्रमाण है।

अतः एक ही कवि को अपभ्रंश के कवि मानलेने के पश्चात उसकी कुछ रचनाओं में प्रारंभिक हिन्दी का प्रयोग देखकर उसे हिन्दी का आरंभिक कवि मानने से इंकार नहीं किया जा सकता है।

1.5. प्रथम कवि :

हिंदी का प्रथम कवि कौन है? इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। डॉ शिवसिंह सेंगर ने सातवीं शताब्दी में उत्पन्न 'पुष्य' या 'पुण्ड' नामक किसी कवि को हिन्दी का प्रथम कवि माना था। किंतु इस कवि का उल्लेख मात्र मिलता है, उसकी कोई रचना उपलब्ध नहीं है। राहुलजी ने सातवीं शताब्दी के 'सरहपाद' को हिन्दी का प्रथम कवि माना है। वे ८४ सिद्धों में से एक थे उनकी कविता में अपभ्रंश का साहित्यिक रूप छूट गया है, तथा बोलचाल की भा जो आरंभिक हिन्दी है, प्रयुक्त हुई है। वर्ण, विषय और चेतना की दृष्टि से भी उनका काव्य हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल का बीजांकुर है। ८४ सिद्धों की चेतना की अनेक तत्व नाथ संप्रदाय की काव्यचेतना में विलीन होकर एक नई प्रेरणा बने और दोनों ने भक्तिकाव्य के आधार भूमि तैयार की। सि साहित्य से नाथ साहित्य का विकास हुआ और नाथ साहित्य की प्रेरणा से भक्ति कालीन संत-साहित्य का प्रारंभ हुआ, जिसके प्रथम कवि कबीर माने जाते हैं सरहपाद की काव्य परंपरा में विकसित नाथपंथ का हठयोग कबीर के काव्य में इतना अधिक पल्लवित हुआ कि सरहपाद के काव्य की आदि स्थिति को नकारा नहीं जा सकता। साहित्यिक अपभ्रंश में जो साहित्य विकसित हुआ उस पर सरहपा का उतना प्रभाव नहीं है जितना नाथ-साहित्य और संत-साहित्य पर है। एक तीर आधार और है, जिस पर सरहपाद को प्रथम हिन्दी कवि के रूप में प्रतिष्ठित कि जा सकता है, वह है, शैली की परंपरा का। सरहपाद ने दोहा और पदों की शैली अपनी कविता में प्रयुक्त की है। यह शैली उनके बाद के सभी हिन्दी कवियों ने परंपरा के रूप में अपनायी है। हिन्दी-मुक्तक काव्य में दोहा सबसे अधिक प्रिय छंद रहा है। अतः सभी दृष्टियों से सरहपाद को हिन्दी का प्रथम कवि माना जा सकता है।

जो विद्वान सरहपाद को हिन्दी का प्रथम कवि नहीं मानना चाहते, उनके पास अपने मत के समर्थन के लिए सिर्फ दो तर्क है, पहला - सरहपाद की रचनाएँ अपभ्रंश साहित्य का अंग है और दूसरा सरहपाद के समय से ग्यारहवीं शताब्दी तक हिन्दी की रचना परंपरा नहीं मिलती। ये दोनों तर्क निराधार है यह सत्य है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास लिखने वाले विद्वानों में कोई भी ऐसा नहीं है जिसने कबीर दास से हिन्दी साहित्य का आरंभ स्वीकार किया है।

यों डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ गणपतिचन्द्र गुप्त आदि एक-दो विद्वानों ने अपभ्रंश और हिन्दी के मध्य निर्णायक रेखा खींचना कठिन मान यह इच्छा प्रकट की है कि भक्तिकाल से ही हिन्दी साहित्य का आरंभ माना जाय, किंतु वे भी इस इच्छा को अनौचित समझते रहे हैं अ इसी कारण उन रचनाओं का आदिकाल के अंतर्गत विवेचन करने के बाध्य हुए हैं, जिन्हें वे अपभ्रंश की रचनाएँ कहते हैं। डॉ गणपतिच गुप्त ने इस संदर्भ में अपने हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास में 'भरतेश्वर बाहुबली रास' के रचयिता शालिभद्र सूरि को हिन्दी का प्रथम क माना है, जो तर्क सम्मत नहीं है। इस प्रश्न का यह उत्तर हो सकता है कि सरहपाद की भाषा हिन्दी का प्रारंभिक रूप है या शालिभद्र सूरी की भाषा ? दोनों के उदाहरणों को देखने पर स्वतः ही इसका उत्तर मिल जाता है और स्पष्ट हो जाता है कि सरहपाद की भाषा अपेक्षाकृत हिन्दी के नि निकट है —

सरहपाद : क) घोर अँधारे चन्दमणि जिमि उज्जोअ करेइ।
परम महासुह एखु कण, दुरिअ अशेष हरेई॥

ख) पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणइ, देहहि बुद्ध बसन्त नजाणइ।
अमणागमण ण तेन विखण्डिअ, तोवि णिलज्ज भणइ हउं पण्डि

शालिभद्र सूरि : क) तंजि पहिय पिक्खेविणु पिअ उक्कासिरिय।
मन्थर गय सरलाइवि उत्तावलि चलिय।
तुह मणहर चल्लंतिय चंचल रमण भरि।
धुडवि खिसिय रसंणावलि किंकिण रव पसरि॥

ख) उपनूँए केवल नाण तउ विरहइ रिसहे सिउ ए।
आबिउ ए भरह नरिन्द सिउं अवध्यापुरि ए॥

रही परंपरा की बात तो उसके लिए ग्रंथों का उतना महत्व नहीं जितना, भावना और विचारणा का है क्योंकि इन्हीं से साहित्य का अस्तित्व मा जाता है; न की मात्र ग्रंथ संख्या से। इस दृष्टि से सरहपाद की देन अधिक महत्वपूर्ण है – उनकी भावधारा सिद्धों और नाथों से होती हुई कबीर तक अपनी परंपरा बनाती है। जबकि शालिभद्र सूरि की देन इस संदर्भ में नगण्य है। अतः सरहपाद को ही हिन्दी का प्रथम कवि मान तर्कसंगत है।

1.6. प्रथम रचना :

हिन्दी के प्रथम कवि सरहपाद की जो रचनाएँ मिलती हैं वे सभी मुक्तक हैं; अतः प्रथम रचना के नाम पर किसी एक पुस्त को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने हिन्दी-काव्य-धारा में सरहपाद की कुछ रचनाओं का संग्रह किया है उसी के आधार पर उनकी हिन्दी-रचना का एक अंश यहाँ उद्धृत कि जाता है :

जह मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाह पवेश।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश॥
पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणइ।
देहहि बुद्ध बसन्त न जाणइ॥

यद्यपि इस उद्धरण में अपभ्रंश भाषा के व्याकरण की प्रवृत्तियाँ भी मिल हैं, तथापि हिन्दी के रूप की झलक ही अधिक स्पष्ट है। साथ ही डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तत्समता को हिन्दी की मूल प्रवृत्ति ~~को हिन्दी भाषा का मूल रहस्य~~ माना है, वह 'पवन' 'रवि', 'शशि', 'वट' 'चित्त' आदि श में स्पष्टतः देखी जा सकती है। अन्य सिद्ध कवियों ने भी सरहपाद क भाषा-प्रवृत्ति का अनुकरण किया है। राहुल ने सरहपाद का समय 769 माना है। ~~[illegible]~~ पर्ण डॉ विनयतोष भट्टाचार्य ने 633 ई. बताया है। डॉ. रामकुमार वर्मा इसी आधार पर लिखते हैं : "सातवीं शताब्दी से ह हम सिद्धों की रचनाओं को अपनी भाषा के प्रारंभिक रूप में पाते हैं। रचनाओं के वर्ण्य विषय हठयोग, मंत्र, मद्य और स्त्री हैं, जो वज्रयान के मु

रूप है। भाषा अपभ्रंश-मिश्रित है; जिसमें सिद्धांतों के मिश्रण के कारण काव्योत्कर्ष हो नहीं सकता।" वस्तुतः डॉ वर्मा ने काव्योत्कर्ष का जो अभाव देखा है, वह सिद्धांतो के मिश्रण के कारण तो है ही, इन सिद्धांतों के प्रतिपादनार्थ अपभ्रंश भाषा का मिश्रण भी इसके लिए उत्तरदायी रहा है। अतः आरंभिक रचना की दृष्टि से काव्योत्कर्ष का उतना महत्व नहीं है, जितना महत्वपूर्ण काव्य भाषा के रूप में किसी रचना में हिन्दी का प्रयोग; और यह प्रयोग सरहपाद की रचनाओं में ही प्रथम बार मिलता है।

यदि रूक ग्रंथ के रूप में हिन्दी की प्रथम रचना का निर्धारण करना हो तो सरहपाद आदि सिद्धों की मुक्तक कविताओं के पश्चात् जैन-आचार्य देवसेन-कृत श्रावकाचार ग्रंथ का नाम लिया जा सकता है। इसमें सरहपाद की दोहा शैली का विकसित रूप मिलता है। देवसेन ने इस ग्रंथ में 250 दोहों में श्रावक धर्म का वर्णन किया है। गृहस्थ धर्म उस वर्णन का केन्द्र है। अतः इसमें साहित्यिक तत्वों का अभाव नहीं है। इस दृष्टि से इस ग्रंथ को हिन्दी की प्रथम साहित्यिक रचना माना जा सकता है।

1.7. आदिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि :

साहित्यिक रचनाओं के पीछे ऐतिहासिक शक्तियों और सामाजिक संस्थाओं का योगदान होता है। सामाजिक संगठन काव्यानुभूति की जटिलता के ही सक्रिय होता है। काव्यानुभूति की प्रेरक तत्व के रूप में मनुष्य के परिवेश का बहुत महत्व है। किसी भी काल के साहित्येतिहास को समझने के लिए उसके परिस्थिति को ठीक प्रकार से समझना अत्यंत आवश्यक होता है। इसी दृष्टि से आदिकाल साहित्य के इतिहास के साथ तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथ सांस्कृतिक स्थितियों को जानना आवश्यक है।

1.7.1. राजनीतिक स्थिति :

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी का आदिकाल भारतीय राजनीतिक जीवन के विश्रृंखलन होने का काल है। सातवीं - आठवीं शताब्द से बारहवीं शताब्दी तक की राजनीतिक घटनाचक्र ने हिन्दी साहित्य को भाषा और भाव की दृष्टि से प्रभावित किया। विश्रृंखला तथा राजनीतिक असंतुलन के इस युग का प्रारंभ राजवर्धन की मृत्यु के पश्चात् उसके अनुज तथा सशक्त हिन्दू सम्राट हर्षवर्धन के सिंहासनारूढ़ होने से होत है। हर्षवर्धन ने सन् 606 ई० में सिंहासन संभाला और अपनी योग्यता तथा प्रतिभा से अपने विरोधियों को वश में कर लिया। हर्षवर्धन के शास काल में ही चीनी यात्री ह्वानसांग भारत आया था और उसने उस सम के भारत के धर्म और समाज के व्यवस्थित होने का उल्लेख किया है। 647 ई० में हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् उत्तरभारत का साम्राज्य एक सूत्र होकर न रह सका और छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गया। इस सम का राजनीतिक परिदृश्य बहुत ही उलझा हुआ था। कुछ राज्य थोड़े समय के लिए काफी शक्तिशाली बने रहे उनमें से कोई भी अपनी प्रभुसत्ता स्थापित नहीं कर पाये। ये राज्य लगातार एक दूसरे के साथ चढ़ाइयों में लगे रहे। परंतु उनमें से अजमेर के चौहान, कनौज के गाहड़वाल और मालवा के परमार अपनी सत्ता थोड़े समय के लिए प्रतिष्ठित करने में कामयाब हो गए थे। आठवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शता तक के भारतीय इतिहास की राजनीतिक परिस्थिति हिन्दू-सत्ता के धीरे-धी क्षय होने तथा इस्लाम-सत्ता के धीरे-धीरे उदय होने की करुण कहानी है इसी कारण ऐसी मनःस्थिति का जन्म हुआ जिसमें कोई एक प्रवृत्ति साहित्य में प्रधान न हो सकी।

यवन शक्तियों के आक्रमण का प्रभाव पश्चिम और मध्यप्रदेश पर प
इन्हीं क्षेत्रों को जनता युद्ध तथा अत्याचारों से विशेषतः आक्रांत हुई थीं।
यही वह क्षेत्र था जहाँ हिन्दी भाषा का विकास हो रहा था। अतः इस क
का समस्त हिन्दी-साहित्य आक्रमण और युद्ध के प्रभावों की मनःस्थितियें
का प्रतिपालन है।

आदिकाल के इस युद्ध प्रभावित जीवन में कहीं भी संतुल
नहीं था। जनता पर विदेशी आक्रांताओं के अत्याचारों के साथ-साथ देश
राजाओं के अत्याचारों का क्रम भी बढ़ता चला गया। वे आपस में लड़
लगे और प्रजा पीड़ित होने लगी। पृथ्वीराज चौहान, जयचंद, परमार्दिदेव आ
की पारस्परिक लड़ाइयाँ अंतहीन कथाएँ बनती गयीं। फलतः जनता में
एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जो साहस और वीरता के साथ लड़ते
हुए जीना चाहता था, तो दूसरा ऐसा वर्ग भी पनपा जो विनाशलीला
देख-देख कर संसारेतर बातें सोचने को बाध्य था। अराजकता, गृह
कलह, विद्रोह आक्रमण और युद्ध के वातावरण में यदि एक कवि अ
आध्यात्मिक जीवन की बातें करता था, तो दूसरा मरते-मरते भी जीव
का रस भोग लेना चाहता था। एक तीसरा ऐसा भी कवि था जो तलव
के गीत गाकर गौरव के साथ जीना चाहता था। यही इस काल की
राजनीतिक परिस्थितियों की एक विचित्र देन है, जिसके फलस्वरूप यदि-स्त्र
भोग, हठयोग से लेकर आध्यात्मिक पलायन और उपदेशों तक का
साहित्य एक ओर लिखा गया, तो दूसरी ओर ईश्वर की सत्ता में विश्व
करने, लड़ते-लड़ते जीने और संसार को सरस बनाने की भावना म
साहित्य रचना के मूल में रही।

सम्राट हर्षवर्द्धन का दरबार संस्कृत के कवियों और पण्डित
भरा रहता था। उस समय अपभ्रंश और जनभाषा के कवियों को कोइ
प्रोत्साहन नहीं मिला। किंतु राजपूतों की राजधानियाँ स्थापित होने के पर
लोक-भाषा का आदर बढ़ने लगा। मध्यप्रदेश में स्थिति फिर भी विपरीत
बनी रही। वहां के प्रतिहार और गाहड़वार राजा वैदिक भावना के समर्थक
बने रहे। ड० डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "वे बाहर से बुला-बु
अनेक ब्राह्मण वंशों को दान देकर काशी में बसा रहे थे। संस्कृत को उद
बहुत प्रोत्साहन दिया।" इस प्रकार उचित प्रोत्साहन के अभाव में लोक भाषा के

कवियों को काव्य-रचना के लिए अनुकूल वातावरण नहीं मिला। जो कवि धार्मिक भावना से अनुप्राणित थे, वे ही किसी की परवाह किए बि काव्य-साधना करते रहे, किंतु जो कवि राजाश्रित थे, उन्हें अपने राजा प्रसन्न करने के लिए काव्य-रचना करनी पड़ी। धर्म और राजाश्रय से मुक्त रहकर कविता करनेवाले कवियों की प्रतिभा के विकास के लिए अधि वातावरण नहीं था।

गुप्त युग और हर्षवर्द्धन युग की केन्द्रीय सत्ता के ह्रास के बा संस्कृत भाषा की केन्द्रीयता भी समाप्त हो गयी। जनभाषा में साहित्य रचना होने लगी। प्राकृत और अपभ्रंश जैसी जनभाषा को महत्व मिला जिसका बाद में देशभाषा के विकास में व्यापक योगदान रहा। तात्पर्य य है कि केन्द्रीय सत्ता के टूटने का प्रभाव सिर्फ राजनीति तक सीमित नहीं था बल्कि उसका प्रभाव जीवन के हर क्षेत्र के साथ साहित्य में भी पड़ा। राजनीति में क्षेत्रीय अस्मिता का प्रभाव बढ़ रहा था साथ में भाषा के स्तर हिन्दी, बंगला, ओड़िआ, असमिया आदि भाषा के निर्माण की प्रवृत्ति बढ़ रही थी।

छोटे-छोटे राज्यों में लगातार संघर्ष होने के कारण साहित्य भ प्रभावित हुआ। पर धीरे-धीरे साहित्य रचना की पद्धति बदल गई। राजदरबा में संस्कृत साहित्य का प्रभाव पड़ने लगा। साहित्य रचना के लिए अनुभव की जीवंतता अनिवार्य हो गई थी। चारण युद्ध क्षेत्र में अनुभव प्राप्त कर थे इसलिए उनकी रचनाओं में अनुभूति की वास्तविकता होती थी। भले ही उ रचनाएँ अतिरंजना पूर्ण होती थी। इस तरह राजनीति का प्रभाव केवल राजनी पर न रहकर साहित्य पर भी पड़ता था। आदिकाल का रासो साहित्य इस श्रेष्ठ उदाहरण है।

1.7.2 सामाजिक स्थिति :

देश की सामाजिक स्थिति पर राजनीतिक और धार्मि परिस्थितियों का गहरा प्रभाव रहा है। जनता विदेशियों के आने से एक प्रकार से परिवर्तन का सामना करती है। समाज में भी हलचल मचती है। विदेशियों का हिन्दू समाज में घुल मिल जाने से नई जातियों का उदय हुआ। राजपुत जातियों का उदय कुछ इस प्रकार से हुआ है।

राजपुतों के पास सत्ता होने के कारण उनका दबदबा समाज में बढ़ा इससे ब्राह्मण वाद को खतरा महसूस होने लगा। इसलिए उन्होंने वर्णव की कट्टरता को थोड़ा सहज बनादिया। इधर राजपुत को क्षत्रिय की संज्ञा मिली। ब्राह्मणों ने राजपुतों को नैतिक औचित्य प्रदान किया। इसका सीधा असर समाज पर पड़ा। दूसरे वर्ग के लोग ब्राह्मणवाद को चुनौ देने के मुद्रा में खड़े होने लगे। इसका उदाहरण सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य में मिलता है।

जनता धर्म और शासन से निराश हो चुकी थी। युद्ध के समय उसकी हालत अधिक खराब रहती, उसे बुरी तरह पीसा जाता था। व. ईश्वर की ओर देखती तो उसे भ्रम और असहायता की स्थिति मिलती। ज -पाँति का भेदभाव बहुत बढ़ गया था। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र - इ. चारों वर्णों की प्रधानता थी। अनेक जातियाँ एवं उपजातियों में बँटकर भारत सामाजिक उत्कर्ष खो चुका था। जाति-पाँति का बन्धन और आ कसते जा रहे थे। भोग का अधिकार उच्च वर्ग को था और निम्न वर्ग श्रम के लिए पैदा हुआ था। जनता के लिए शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी। सांप्रदायि तनाव के कारण नारी और पुरुष के लिए साहित्य और शास्त्र ज्ञान अप्राप्त बना दिया गया था। अंधविश्वासों के दायरे में जनता फँसी हुई थी। सं संन्यासियों के श्राप और वरदान पर लोगों की दृष्टि थी। जीवन-यापन के सामान्य साधन उपलब्ध नहीं होते थे और निर्धनता सदा जनता के घेरे रहती। नाना प्रकार के पूजा, पाठ, तंत्र-मंत्र तथा जप तप करके भी लोग [illegible], महामारी तथा युद्ध जैसे संकट को टाल नहीं पाते थे। नार की स्थिति भोग्या के रूप में थी। वह मनुष्य नहीं वस्तु बनी हुई थी। ना का सामाजिक कर्तव्य पुरुष के भोग [illegible] का साधन बनने तक सीमित था। नारी को मानवीय गरिमा के अनुकूल अधिकार प्राप्त नहीं था। इसके प्रभाव से साहित्य भी अछूता नहीं रहा। जैसे धन प्राप्ति के लिए युद्ध होते थे वैसे ही सुंदर नारी युद्ध का कारण बनी। सामंतों में नारी के प्रति जो दृष्टिकोण था। उसका प्रभाव धर्म पर भी पड़ा। मंदिरों में देवदासियों की प्रथा शुरु हो गयी। यहाँ तक कि बौद्ध धर्म में तांत्रिक संप्रदाय का आरंभ हुआ और वज्रयानियों ने स्त्रियों को लेकर मद्यपान के साथ वीभत्स विधान शुरु किए। इस तरह सामाजिक विषमता में जीनेवाली जनता निरंतर ऐसी विचारों की प्यासी रहती थी, जो उसे दिलासा दे सके, मानसिक शांति प्रदान करें। हिन्दी के कवियों ने जनता की उस स्थिति के अनुसार काव्य रचना की।

1.7.3 धार्मिक स्थिति :

ईसा की छठी शताब्दी तक देश का वातावरण शांत
विभिन्न धार्मिक संप्रदायों में परस्पर मेलजोल बढ़ने लगा। वैदिक यज्ञ
मूर्तिपूजा तथा जैन एवं बौद्ध उपासना-पद्धतियाँ एक साथ चल रही
किंतु सातवीं शताब्दी के साथ देश की धार्मिक परिस्थितियों में परिव
आरंभ हुआ। इस समय आलम्बार और नायम्बार संत दक्षिण भारत
से उत्तर भारत की ओर एक धार्मिक आंदोलन लाए। 642 ई० में जब
ह्वेनसाँग ने दक्षिण भारत की यात्रा की तो वहाँ बौद्धधर्म की पतन की
झलक पाकर वह बहुत दुःखी हुआ था। उत्तर भारत में भी इस समय
यह प्रभाव आ रहा था। वैष्णवमत इस समय अधिक प्रतिष्ठित नहीं था; उ
जनता में या तो जैनमत सम्मान पा रहा था या शैवमत। फल यह हुआ
कि शैव और जैन मत आगे बढ़ने की होड़ में परस्पर टकराने लगे। बारह
शताब्दी तक वैष्णव आंदोलन तीव्र होने लगा था और शैव आंदोलन भी नया
रूप ले लिया था। फलस्वरूप जैन मत के प्रचारकों की शक्ति घटने लगी।
राजपूत राजा अहिंसामूलक मतों में विश्वास नहीं करते थे। उन पर शैवमत
का प्रभाव अधिक था। मध्यदेश के गाहड़वार राजा स्मार्त थे तथा मालव
के राजा वैदिक धर्म के समर्थक। गंगा और नर्मदा के अंतराल में कलचु
वंश शैवमत के प्रचार में लगा हुआ था। इसी वंश के प्रतापी राजा कर्ण के
प्रभाव से काशी शैव-साधना का केन्द्र बनी हुई थी। धीरे-धीरे स्मार्त
मतानुयायी जनता भी शैव होती जा रही थी। वस्तुतः समस्त उत्तर भारत
धीरे-धीरे शैवमत बौद्ध एवं स्मार्त प्रभावों को स्वीकार करता हुआ एक
नया रूप लेने लगा था। नाथ मत का उदय इसी से हुआ। डॉ. हजारी प्रसाद
द्विवेदी के मतानुसार, "हिमालय के पाद देश में प्रचलित नाथपंथ बौद्धधर्म
को प्रभावित करके वज्रयान शाखा के नाम से प्रसिद्ध हो चुकी थी"।

डॉ. ईश्वरी प्रसाद के विचार है कि राजपूत-शौर्य के उदय के
साथ ब्राह्मणधर्म का उत्थान भी होने लगा था। इस परिस्थिति का मुकाब
करने के लिए बौद्ध धर्म भी रूप बदल-बदल कर अपनी जड़ें जमाने
को सर्वत्र प्रयत्नशील था। उसकी महायान शाखा के मंत्र-तंत्र,
जादू-टोने, ध्यान-धारणा आदि के अनेक साधन साधारण जनता में
धारण हुए थे। जनता हिन्दू-साधुओं की जितना आदर करती थी उतन
बौद्ध संन्यासियों का भी करती थी। लेकिन ऐसे प्रभाव से सामान्य जन

में आत्मविश्वास की कमी आती जा रही थी। शैव और शा
साधकों का बढ़ता हुआ प्रभाव तो और भी ज्यादा भय पैदा करने
था। उनको मानना पड़ता था। वे जनता को चौरासी लाख योनियों में
भटकने का भय दिखाते थे। धार्मिक स्थलों की दुर्दशा हो चली थी।
व्यभिचार, आडम्बर, आदि जिन दोषों का बौद्ध विहारों में प्राधान्य हो
गया था। उन्हीं से हिन्दू मंदिर भी अछूता न था। पूजारी
और महंत धर्म के सच्चे स्वरूप से अपरिचित थे तथा अधिकां
एवं धन का प्रलोभन प्रबल हो चला था। सोमनाथ मंदिर पर किए
गये आक्रमण में महमूद की सफलता से जहाँ एक ओर शैव
एवं जैन संघर्ष की सूचना मिलती है, वहाँ मंदिरों में बढ़े हुए
विलास एवं धन संग्रह की प्रवृत्ति सामने आती है।

जब देशभर धार्मिक अशांति फैली हुई थी तब इस्लाम
धर्म का प्रवेश कम महत्वपूर्ण नहीं था। जनता अशिक्षित थी, उनके
सामने धर्म के अनेक मार्ग थे। किंतु राह दिखानेवाले लोग ईमानदार
नहीं थे। बौद्ध संन्यासी जनता के सामने यौगिक चमत्कार का
प्रदर्शन करते थे। वैदिक एवं पौराणिक मतों के समर्थक खण्डन-म
के चक्कर में पड़े हुए थे। उधर जैन धर्म के पौराणिक आख्यानों
को नए ढंग से गढ़कर जनता का विश्वास भाजन बन रहे थे
वैष्णवों की धार्मिक कथाएँ जैन-कथाएँ बनती जा रही थीं। जनता के
सामने आस्तिकता और नास्तिकता का आवरण ओढ़े एक अजीब-सा
वातावरण बन रहा था। वैष्णवों के राम और कृष्ण पौरुष के प्रतीक
उन्हीं के चरितों में युद्ध धर्म का अंग सिद्ध हो चुका था। जैन
धर्म में वे भी अब दीक्षित हो रहे थे।

तात्पर्य यह है कि धार्मिक मतवादों और बाह्याचारों की
विविधता के कारण जनता भ्रमजाल में पड़ी हुई थी। शंकर द्वारा प्रचारि
वेदांत मत और पंच देवों की पूजा अन्तः सलिला के रूप में फिर भी
एकता का साधन बनी हुई थी। ऐसे में लगभग बारहवीं शताब्दी तक
दक्षिण भारत से भक्तिआंदोलन की प्रखर धारा प्रवाहित होने लगी।
रामानुज का श्री संप्रदाय, निम्बार्क का सनकादि संप्रदाय, विष्णुस्वामी का
ब्रह्मसंप्रदाय और मध्वाचार्य का रुद्र संप्रदाय स्थापित हुए। इन चार संप्रदायों
प्रचारक उत्तर भारत में आने लगे और राम कृष्ण भक्ति के साथ निर्गुण भक्तिधारा लोकप्रिय हो

1.7.4 सांस्कृतिक स्थिति :

हिन्दी साहित्य का आदिकाल ऐसे समय में आरंभ हुआ जब भारत संस्कृति के स्तर पर उत्कर्ष के शिखर पर पहुँच चुकी थी। जब भक्तिकाल को भारतीय संस्कृति ने अपना दायित्व सौंपा, तब भारत में मुस्लिम संस्कृति के स्वर्ण-शिखर स्थापित होने लगे थे। इस प्रकार से आदिकाल को दो संस्कृतियों के संक्रमण एवं ह्रास-विकास की गाथा कहा जा सकता है।

सम्राट हर्षवर्धन के विशाल साम्राज्य ने हिन्दूधर्म और संस्कृति को राष्ट्रव्यापी एकता का आधार दिया था। फलस्वरूप छोटे-मोटे भेदभाव मिट गए थे। स्वाधीनता एवं देशभक्ति के भाव दृढ़ होने लगे थे। जातीय गौरव की भावना की अभिव्यक्ति संगीत, चित्र, मूर्ति, स्थापत्य आदि कलाओं में हो रही थी। स्थापत्य के क्षेत्र में विशेषतः मंदिरों का निर्माण धार्मिक भावना का परिचायक था। भुवनेश्वर, खजुराहो, पुरी, सोमनाथपुर, बेलोर, कांची, तंजौर आदि स्थानों पर अनेक भव्य मंदिर का निर्माण आदिकाल आरंभिक काल में ही हो गया था। आबू का जैन मंदिर जो भारतीय स्थापत्य का बेजोड़ नमूना है, ग्यारहवीं शताब्दी की महत्वपूर्ण देन है। इस समय प्रत्येक हिन्दू के लिए उसका संपूर्ण जीवन धार्मिक कर्तव्यों का प्रतिरूप था और चरित्र धर्मभावना से प्रेरित था। संगीत, मूर्ति, चित्र आदि कलाओं में भी धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति हो रही थी। अरब इतिहासकार अलबरूनी भारतीय कलाओं में धार्मिक भावनाओं की ऐसी व्यापक अभिव्यक्ति देखकर चकित रह गया था। उसने लिखा है, "वे (हिन्दू) कला के अत्यंत उच्च सोपान पर आरोहण कर चुके हैं। हम लोग (मुसलमान) जब उन्हें (मंदिरों आदि को) देखते हैं, तो आश्चर्यचकित रह जाते हैं। वे न तो उनका वर्णन कर सकते हैं, न वैसा निर्माण ही कर सकते हैं।" महमूद गजनवी भी भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता पर मुग्ध हुआ। तत्कालीन जन जीवन जो शास्त्र एवं कलाओं के अनुशीलन में तल्लीन था, गजनवी के लिए ईर्ष्या का कारण बना। किंतु देश के भाग्य की विडम्बना यह रही कि सदियों से श्रेष्ठता के साधना में लिप्त वह जीवन महमूद गजनवी जैसे आक्रांताओं का कोपभाजन बन गया। राजपूत राजाओं का प्रतिशोध तो हुआ पर उनके लिए राज्य एवं व्यक्तिगत गौरव की रक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो गया।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल में जनजीवन सभी तरह से अस्त-व्यस्त था, आये दिन लड़ाई झगड़ों से अमन-चैन नहीं था। राजसत्ता से जनता पीड़ित थी। थोड़े दिनों के लिए कोई सुशासक आता भी था तो दूसरे का आक्रमण सबकुछ तहस-नहस कर देता था। लोभी, कामी शासक लोगों को बराबर सताते थे। युद्ध में हिस्सा लेनेवाले सैन्य-सामंत जीवन को तुच्छ मानकर, जान हथेली पर लेकर लड़ते थे या फिर सुर-सुंदरी के विलासिता में वक्त गुजारते थे। वीर के जीवन के दो पक्ष थे - वीरत्व और विलास। पृथ्वीराज जैसे वीर का जीवन भी ऐसा ही था। उनके जीवन-चरित पर आधारित 'पृथ्वीराज रासो' इसका विशद चित्र प्रस्तुत करता है। सामाजिक जीवन भी अस्त व्यस्त था। धर्म की आड़ में जनता नचायी जा रही थी। पूजा-उपासना आदि के आडम्बरपूर्ण बाह्याचार, वैदिक कर्मकाण्डों की भरमार, तंत्र-मंत्र, टोना-टोटका का घटाटोप लोगों को परेशान कर रहा था। सभी अपनी अपनी डफली बजा रहे सिद्धों की चर्यापद, जैनियों की अनेक रचनाएँ इन धार्मिक स्थितियों की उपज हैं। समाज में छुआ-छूत, भेदभाव, ऊँच-नीच का झमेला, धनी निर्धन की विषमता, जीवन को विषमय कर रहे थे।

इसके फलस्वरूप साहित्य में विविध प्रवृत्तियों का धार्मिक प्रतिबिंबित हो रहा था। कम से कम निम्नलिखित प्रकार के काव्य लिखे जा रहे थे —

१. बौद्ध सिद्धों की रचनाएं।
२. जैन धर्म की रचनाएं।
३. वीर काव्य
४. नैतिक / भक्तिपरक रचनाएं।
५. लौकिक शृंगारिक रचनाएं।

इन पर अलग से विचार किया जायेगा।

1.8. आदिकाल के साहित्यिक सामग्री का वर्गीकरण :

आदिकाल में उपलब्ध साहित्यिक सामग्री का वर्गीकरण निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है। जैसे -

1) सिद्ध साहित्य, 2) जैन साहित्य, 3) नाथ साहित्य, 4) रासो साहित्य, 5) लौकिक साहित्य, 6) अन्य रचनाएँ, 7) अमीर खुसरो 8) विद्यापति

1.9. सिद्ध साहित्य :

बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्व का प्रचार करने के लिए सिद्धों ने जनभाषा में जो साहित्य रचना की, वह हिन्दी के सिद्ध साहित्य माना जाता है। राहुल जी ने चौरासी सिद्धों के नामों का उल्लेख किया है, जिनमें सिद्ध सरहपा से सिद्ध साहित्य का आरंभ माना जाता है। इन सिद्धों में सरहपा, शबरपा, लुइपा, डोम्भिपा, कण्हपा एवं कुक्कुरिपा हिन्दी के मुख्य सिद्ध कवि हैं। यहाँ संक्षेप में इनके व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय दिया जा रहा है।

सरहपा :

ये सरहपाद, सरोजवज्र, राहुलभद्र आदि कई नामों से प्रसिद्ध हैं। जाति से ब्राह्मण थे। राहुल जी ने इनका समय 769 ई० माना है, जिससे अधिकांश विद्वान सहमत हैं। इन्होंने बत्तीस ग्रंथों की रचना की जिनमें 'दोहाकोष' हिन्दी की रचनाओं में प्रसिद्ध है। इन्होंने पाखण्ड और आडम्बर का विरोध किया, गुरु सेवा पर महत्व दिया। ये सहज भोग मार्ग से जीव को महासुख की ओर ले जाते हैं। इनकी भाषा सरल तथा सरस है। काव्यों में भावों का सहज प्रवाह मिलता है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :

नाद न बिन्दु न रवि न शशि मण्डल,
चिअराअ सहावे मूकल।
अजुरे उजु छाड़ि मा लेहु रे बंक
निअहि बोहिमा जाहु रे लांक

हाथेरे कांकांण मा लोउ दापण,
अपणे अपा बुझतु निअमण।

सरहपा की इस कविता से स्पष्ट है कि उनकी भाषा हिन्दी ही है, केवल उस में कहीं-कहीं अपभ्रंश का प्रभाव है। भाव और शिल्प की परंपरा संत-साहित्य में जाकर नये रूप में उभरी, उसका बीज-रूप सरहपा के काव्य में द्रष्टव्य है।

शबरपा :

इनका जन्म क्षत्रिय-कुल में 780 ई॰ में हुआ था। इन्होंने सरहपा से ज्ञान प्राप्त किया था। शबरों का-सा जीवन व्यतीत करने के क वे शबरपा कहे जाने लगे। 'चर्यापद' इनकी प्रसिद्ध रचना है। वे माया मोह विरोध करके सहज जीवन पर बल देते हैं और उसी को महासुख प्राप्ति क मार्ग बतलाते हैं। इनकी कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

हेरि ये मेरी तइला बाड़ी खसमें समतुला
धुकड़ुर सेरे कपासु फुटिला।
तइला बाड़ि पासेर जोहणा वाड़ी तारुला
फिटेलि अंधारि रे आकाश फुलिआ॥

लुइपा :

ये राजा धर्मपाल के शासन-काल में कायस्थ परिवार में उत्प हुए थे। सरहपा इनके गुरु थे। इनकी साधना का प्रभाव देखकर ओड़ि का तत्कालीन राजा तथा मंत्री इनके शिष्य बन गए। चौरासी सिद्धों में इ सबसे ऊँचा स्थान माना जाता है। इनकी कविता में रहस्य भावना की प्रधानता है। एक उदाहरण देखिए :

काआ तरुवर पंच विडाल, चंचल चीए पइठो काल।
दिट करिअ महासुह परिमाण, लुइ भणइ गुरु पुच्छि अजाण॥

डोम्भिपा :

इनका जन्म लगभग 840 ई० को मगध के क्षत्रियवंश में हुआ था। विरूपा से इन्होंने दीक्षा ली थी। इनके द्वारा रचित इक्कीस ग्रंथ हैं, जिनमें 'डोम्बि- गीतिका', 'योगचर्या', अक्षरद्विकोपदेश आदि प्रसिद्ध हैं। इनकी कविता का एक उदाहरण देखिए :

गंगा जउना माझेरे बहर नाइ।
तांहि बुडिली मातंगि पोइआली ले पार करई।
बाहतु डोम्बी बाहि लो डोम्बी वाट भइल उछारा।
सद्गुरु पाअ पए जाइब पुणु जिणउरा॥

कण्हपा :

इनका जन्म 820 ई० में कर्णाटक के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बिहार की सोमपुरी में ये रहते थे। ये जलन्धरपा के शिष्य थे कई सिद्धों ने इनकी शिष्यता स्वीकार की थी। इनके लिखे चौहत्तर ग्रंथ बताये जाते हैं, जिनमें अधिकांश दार्शनिक विषयों पर हैं। रहस्यात्म भावनाओं से परिपूर्ण गीतों की रचना करके ये हिन्दी के कवियों में प्रसिद्ध हुए। इन्होंने शास्त्रीय रूढ़ियों का भी खण्डन किया है। इनकी कविता का एक उदाहरण देखिए :

आगम वेअ पुराणे, पंडित मान वहंति।
पक्क सिरिफल अलिअ, जिम बाहेरित भ्रमयंति॥

कुक्कुरिपा :

इनका जन्म कपिलवस्तु के एक ब्राह्मण-वंश में माना जाता है इनके जन्मकाल का पता नहीं चल सका। चर्पटीपा इनके गुरु थे। इन्होंने सोलह ग्रंथ रचना किए हैं। ये भी सहज जीवन के समर्थक थे। इनकी कविता का एक उदाहरण देखिए :-

हौं निवासी खमण भतारे, मोहर बिगोआ कहण न जाइ।
फोटलिउ गो माए अन्न ऊडि चाहि, जा एहु बाहाम सो एहु नाहि॥

इन सिद्ध कवियों के अतिरिक्त अन्य सिद्ध कवि भी जनभाषा में अपनी वाणी का प्रचार पद्य में करते थे। परंतु उसमें कवित्व अंश उतना नहीं है। इन कवियों ने हिन्दी साहित्य में कविता की, जो प्रवृत्ति आरंभ की, उनका प्रभाव भक्तिकाल तक चलता रहा। सदियों के विरोध का अक्खड़पन जो कबीर आदि की कविता में मिलता है, इन सिद्ध कवियों की देन है।

1.10. जैन साहित्य :

जैन साधुओं ने पश्चिमी क्षेत्र में अपना मत का प्रचार हिन्दी-कविता के माध्यम से किया। इन कवियों की रचनाएँ आचार, रास, फागु, चरित आदि विभिन्न शैलियों में मिलती हैं। जैन काव्यों की आधार शैली में घटनाओं के स्थान पर उपदेशात्मकता को प्रधानता दी गई है। चरितकाव्य और फागु शैली साधारण स्तर के हैं। जैन साधुओं ने 'रास' को एक प्रभावशाली रचना-शैली का रूप दिया। जैन तीर्थंकरों के जीवन चरित तथा वैष्णव अवतारों की कथाएँ जैन आचार्यों के आचरण में 'रास' नाम से पद्यबद्ध की गयी है। जैन मंदिरों में 'रास' का गायन परंपरा मिलती है। चौदहवीं शताब्दी तक इस परंपरा का प्रचलन हो रहा। अतः जैन साहित्य में सबसे लोकप्रिय रूप 'रास' ग्रंथ बनगए। आगे चलकर वीरगाथाओं में प्रचलित 'रास' शब्द को ही 'रासो' कहा गया है किंतु उनकी विषयवस्तु जैन-काव्यों से भिन्न थी।

प्रमुख शैलियों में लिखि गई आदिकालीन जैन साहित्य का संक्षिप्त परिचय निम्नप्रकार से है —

श्रावकाचार :

प्रसिद्ध जैन आचार्य देवसेन ९३३ई. में इस काव्य की रचना की थी। वे एक अच्छे कवि और उच्चकोटि के चिंतक थे। इस काव्य ग्रंथ में २५० दोहों में श्रावक धर्म

का प्रतिपादन किया है। इसमें गृहस्थ के कर्तव्यों पर भी विस्तार से विचार किया है। इनकी रचना दोहा छन्द में हुई है। एक उदाहरण इस प्रकार है:—

जो जिण सासण भाषियउ, सो मइ कहियउ सारु।
जो पालइ सई भाउ करि, सो संरि पावइ पारु॥

भरतेश्वर- बाहुबली रास:

मुनि जिनविजय के अनुसार जैन साहित की रास परंपरा का यह प्रथम ग्रंथ है। शालिभद्रसूरि ने इसकी रचना 1184ई॰ में किया है। अपने समय के ये प्रसिद्ध जैन आचार्य तथा कवि थे। इस ग्रंथ में भरतेश्वर तथा बाहुबली का चरित्र वर्णन है। 205 छन्दों में रचित यह एक सुंदर खण्डकाव्य है। भाषा में नाटकीयता, उक्ति-वैचित्र्य तथा रसात्मकता पाया जाता है। आगे की रासो रचनाओं को इस ग्रंथ ने अनेक रूपों में प्रभावित किया। इनकी कविता का एक उदाहरण देखिए:—

बोलइ बाहुबली बलवन्त / लोह खण्डि तउ गरवीउ हंत॥
चक्र सरीसउ चूनउ करिऊँ / सयलहँ ग्रोत्रह कुल सँह रउँ

चन्दनबाला रास:

इसकी रचना लगभग 1200ई॰ में आसगु नामक कवि ने की थी। यह 35 छन्दों का एक खण्डकाव्य है। एक लघुमथ पर आधारित यह जैन रचना करुण रस की गंभीर व्यंजना करती है कवि ने भाव-सौंदर्य के जो चित्र प्रस्तुत किया है, उसमें उसकी काव्य-निष्ठा व्यंजित हुई है।

स्थूलिभद्र रास :

यह काव्य जिन धर्म सूरि की रचना है। इसके रच काल 1209 ई० है। काव्य की भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव अधि है, फिर भी इसकी भाषा का मूल रूप हिन्दी है। धार्मिक दृष्टि प्रेरित होने पर भी इसकी भाव-भूमि और अभिव्यंजना काव्य अनुकूल है।

रेवंतगिरि रास :

इसकी रचना विजयसेन सूरि ने 1231 ई० में की थी। इस काव्य में तीर्थंकर नेमिनाथ की प्रतिमा तथा रेवंतगिरि तीर्थ का वर्णन है। यात्रा तथा मूर्ति स्थापना की घटनाओं पर आधारित यह रास वास्तुकलात्मक सौंदर्य का भी आकर्षण प्रस्तुत करता है। प्रकृति के रमणीक चित्र इस काव्य के भाव-पक्ष तथा कलापक्ष दोनों का शृंगार करते हैं। एक उदाहरण देखिए -

कोयल कलयलो मोर केका रओ
सम्मए महुयर महुर गुंजारवो।
जलद जाल बंबाले नीसरणि रमाउलु रेहइ,
उज्जिल सिहरु अलि कज्जल सामलु ॥

नेमिनाथ रास :

इसके कवि सुमति गणि है। इस काव्य का रचना काल 1213 ई० है। 58 छन्दों की इस रचना में कवि ने नेमिनाथ का चरित्र सरस शैली में प्रस्तुत किया है। नेमिनाथ के प्रसंग में श्रीकृष्ण का वर्णन इस काव्य का विषय है और दोनों के माध्यम से विभिन्न भावों की व्यंजना हुई है। रचना की भाषा अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थानी हिन्दी है।

1.11. नाथ साहित्य :

आदिकाल में नाथपंथियों की हठयोग साधना सिद्धों की वाममार्गी भोगप्रधान योग-साधना की प्रतिक्रिया के रूप में हुई, राहुलजी ने सिद्धों की परंपरा का विकसित रूप नाथ-पंथ को माना है इस पंथ के प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ (मच्छन्दरनाथ) तथा गोरखनाथ माने गए हैं। डॉ रामकुमार वर्मा के अनुसार नाथपंथ के चरमोत्कर्ष का समय बारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के अंत तक है। वे मानते थे कि नाथ-पंथ से ही भक्तिकाल के संत-मत का विकास हुआ था, जिसके प्रथम कवि कबीर थे। इस मत का समर्थन कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टि से हो जाता है — नाथपंथी रचनाओं के अनेक विशेषताएं संत काव्य में यथावत् विद्यमान है।

डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "नाथपंथ या नाथ-संप्रदाय के सिद्धमत, सिद्ध-मार्ग, योग-मार्ग, योग-संप्रदाय, अवधूत-मत एवं अवधूत-संप्रदाय नाम भी प्रसिद्ध है।" उनके कथन का यह अर्थ नहीं कि सिद्धमत और नाथमत एक ही है। उनका आशय यह है कि इन दोनों मार्गों को एक ही नाम से पुकारा जाता है। कारण यह है कि मत्स्येन्द्रनाथ (मच्छन्दरनाथ) तथा गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) सिद्धों में भी गिने जाते थे। यह प्रसिद्ध है कि मत्स्येन्द्रनाथ नारी-सहचर्य के आचार में जा फँसे थे, उनके शिष्य गोरखनाथ ने उद्धार किया था। वस्तुतः इस लोक-चर्चा के मूल में ही सिद्ध-मत और नाथ-मत का अंतर छिपा हुआ है। सिद्धगण नारी-भोग में विश्वास करते थे, किंतु नाथपंथी इसके विरोधी थे। नाथ साहित्य के प्रमुख नाथों का संक्षिप्त परिचय निचे दिया गया है —

गोरखनाथ :

गोरखनाथ नाथ-साहित्य के आरंभकर्ता माने जाते है। सिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ उनके गुरु थे, किंतु उन्होंने सिद्धों के मतों का विरोध किया था। गोरखपंथी साहित्य के अनुसार आदिनाथ स्वयं शिव थे। उनके पश्चात् मत्स्येन्द्रनाथ हुए। जिनके आचरण का विरोध उनके शिष्य

गोरखनाथ ने किया। इनके समय के बारे में विद्वानों में मतभेद है। नवीन खोजों के आधार पर यही धारणा अधिक प्रबल हुई है कि गोरखनाथ ने ईसा की तेरहवीं शती के आरंभ में अपना साहित्य लिखा। उनके ग्रंथों की संख्या 40 मानी जाती है। परंतु यह भी निर्विवाद नहीं है।

गोरखनाथ से पहले कई संप्रदाय थे और आगे चलकर सबके सब नाथ पंथ में विलय हो गए। शैवों, शाक्तों के अतिरिक्त बौद्ध, जैन तथा वैष्णव योगमार्गी भी उनके संप्रदाय में आ मिले थे। इनके रचनाओं के विषयवस्तु धार्मिक है। इसी कारण रामचन्द्र शुक्ल ने उनके धार्मिक रचनाओं को साहित्य से बाहर रखा परंतु डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी इस पक्ष में नहीं हैं। उनका मानना है कि इन रचनाओं में जीवन की चरम अनुभूतियों के सघन चित्रण होने के कारण इन्हें साहित्य से दूर नहीं किया जा सकता। इसी साहित्य का विकास भक्ति में ज्ञान-मार्गी संतकाव्य के रूप में हुआ। अतः उसकी साहित्यिकता स्वीकार करना ही अधिक न्याय संगत है।

गोरखनाथ ने हठयोग का उपदेश दिया था। उन्होंने षड्चक्रवाला योग-मार्ग हिन्दी-साहित्य में चलाया था। इस मार्ग में विश्वास करनेवाला हठयोगी साधना द्वारा शरीर और मन को शुद्ध कर शून्य में समाधि लगाता था, वहीं ब्रह्म का साक्षात्कार करता था। गोरखनाथ ने लिखा है कि धीर वह है, जिसका चित्त विकार-साधन होने पर भी विकृत नहीं होता —

नौ लख पातरि आगे नाचै, पीछे सहज अखाड़ा।
ऐसे मन लै जोगी खेलै, तब अंतरि बसै भँडारा॥

मूर्त जगत में अमूर्त के स्पर्श को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं :

अंजन माँहि निरंजन भेट्या, तिल मुख भेट्या तेलं।
मूरति माँहि अमूरति परस्या, भया निरंतर खेलं॥

गोरखनाथ की कविताओं से स्पष्ट होता है कि भक्तिकालीन संतमार्ग के भावपक्ष ही नहीं वरन भाषा और छन्द पर भी उनका प्रभाव पड़ा जो भक्तिकाल के कई प्रवृत्तियों को जन्म : दिया है।

अन्य कवि :

नाथ-साहित्य के विकास में जिन अन्य कवियों ने योग दिया, उनमें चौरंगीनाथ, गोपीचन्द, चुणकर नाथ, भरथरी, जलन्धरीपाव आदि प्रसिद्ध हैं। इन कवियों की रचनाओं में विशेष उपदेश और खण्डन मण्डन है। तेरहवीं शताब्दी में नाथपंथ कवियों ने अपनी वाणी का प्रचार किया था। गोरखनाथ की हठयोग साधना में ईश्वरवाद व्याप्त था। इन हठयोगियों ने भी उस रहस्यवाद का प्रचार किया जो आगे चलकर संतमत में प्रतिपादित होता है।

1.12. रासो साहित्य :

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में रचित जैन 'रास काव्य' वीरगाथाओं के रूप में लिखित 'रासो काव्य' से भिन्न है। जैन रास-काव्य की विषयवस्तु धार्मिक है तथा रासो काव्य की विषयवस्तु का मूल संबंध राजाओं के चरित वर्णन से है। इन काव्यों के अध्ययन से पता चलता है कि उनके रचयिता जिस राजा के चरित का वर्णन कर थे, उनके उत्तराधिकारी राजागण अपने आश्रित अन्य कवियों से उसमें अपने चरित भी सम्मिलित करा देते थे। यही कारण है कि आदिकाल में रचित रासो-ग्रंथों में मध्यकालीन राजाओं का वर्णन मिलता है तथा भाषा भी बाद के भाषारूपों की झलक मिलता है। सत्य यही है कि रासो-काव्य की रचना आदिकाल में हुई थी पर उनमें जो अंश उत्तरवर्ती राजाओं से संबंधित हैं, वे प्रक्षिप्त हैं। आदिकालीन रासो-ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय निम्न में प्रस्तुत किया जाएगा —

खुमाण रासो :

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार इसकी रचना नवीं शताब्दी है। इस काव्य के नायक चितौड़-नरेश खुमाण हैं, इनके युद्ध वर्णन काव्य का विषयवस्तु है। खुमाण का शासनकाल नवीं शता माना जाता है परंतु राजस्थान के वृत्तसंग्राहकों ने इसको सत्रहवीं शताब्दी की रचना बताया है क्योंकि इसमें सत्रहवीं शताब्दी के चितौड़ नरेश राजसिंह तक के राजाओं का वर्णन मिलता है और इस आधार पर वे इसे आदिकाल की रचना नहीं मानना चाहते। वास्तवि यह है कि इस काव्य का मूलरूप नवीं शताब्दी में ही लिखा गया था। तत्कालीन राजाओं का सजीव वर्णन उस समय के परिस्थितियों के यथार्थ ज्ञान तथा भाषा के आरंभिक हिन्दी-रूप के प्रयोग से इस तथ्य के प्रमाण मिलते हैं।

राजस्थान के वृत्तसंग्राहकों के पास इतिहास समझने की पैनी दृष्टि नहीं थी, इसलिए उन्होंने आदिकाल के रचनाओं को मध्यकाल के भण्डार में डालने का दुराग्रह किया है। जबकि वह काव उस काल के प्रवृत्ति से भिन्न पाया गया है। अधिकांश विद्वान् 'खुमाण रासो' के रचनाकार खुमाण नरेश के समकालीन दलपत विजय को माना है। यह पाँच हजार छन्दों का विशाल ग्रंथ है। वीर रस के साथ साथ शृंगार वर्णन आदि से अंत तक मिलता है। इसमें दोहा, सवैया, कवित्त आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं। राजस्थानी हिन्दी में लिखे इस काव्य का उदाहरण देखिए :

पिउ चितोड़ न आविऊ, सावण पहिली तीज।
जो वै वाट विरहिणी खिण-खिण अणवै खीज॥
संदेसो पिण साहिबा, पाछो फिरिय न देह।
पंखी व्हाला पिंजरे, दहूटण रो संदेह॥

बीसलदेव रासो :

1155 ई० में नरपति नाल्ह ने इस रासोकाव्य की रचना की है। एक उदाहरण देखिए :

बारह सै बहोत्तराहाँ मँझारि। जेठ वदी नवमी बुधिवारि।
नाल्ह रसायण आरम्भई। सारदा नूठी ब्रह्म कुमारि।
कासमीरा मुख मण्डनी। रास प्रसांगों बीसलदेराइ।

इस काव्य के रचनाकाल को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं। डॉ मोतीलाल मेनारिया इसे सोलहवीं शताब्दी का मानते हैं परंतु माताप्रसाद गुप्त इसे चौदहवीं शताब्दी के रचना के रूप में प्रमाणित करते हैं।

'बीसलदेव रासो' मूलरूप से गेयकाव्य था। इसके रूप में परिवर्तन होता रहा है। परंतु डॉ मेनारिया का मत है कि यह काव्य गेय न था। शायद वे गेयता का अर्थ 'लोकगीतों' की तरह गाया जाना' लगाते हैं और इसी आधार पर कहते हैं कि राजस्थान में कभी भी यह गेय नहीं रहा। डॉ माताप्रसाद गुप्त ने 125 छन्दों की एक प्रति का संपादन किया। यह पाठ 'बीसलदेव रासो' का मूल रूप बताया जाता है। इसकी भाषा आदिकालीन आरंभिक हिन्दी का सहज रूप है।

'बीसलदेव रासो' हिन्दी के आदिकाल की एक श्रेष्ठ काव्य-कृति है। इसमें अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव तृतीय के विवाह, वियोग एवं पुनर्मिलन की कथा सरस शैली में वर्णन है। सामन्ती जीवन के प्रति गहरी अरुचि का सजीव चित्र इस काव्य में मिलता है। 'सन्देश रासक' के समान ही 'बीसलदेव रासो' की भाव-भूमि प्रेम की निश्छल अभिव्यक्ति से सरस है। इस काव्य के वर्णन में एक संस्कार दृष्टि मिलती है, जो भाव-गरिमा की स्थापना करती है। कवि ने प्रकृति के रमणीय चित्रों से भी भाव चित्रण को सौन्दर्य दिया है। बारह मासों तथा ऋतुओं के प्राकृतिक चित्र संयोग वियोग में उद्दीपन का काम करते हैं। विरह की विभिन्न दशाओं के वर्णन में समस्त प्रकृति सहायक हुई है।

'बीसलदेव रासो' की शृंगार परंपरा का आदिकाल में ही अंत नहीं हो जाता। यह परंपरा विद्यापति से होती हुई भक्तिकाल में प्रेमाख्यानक काव्यों तक पहुँचकर तथा कृष्णभक्तों को भी प्रभावित किया। आगे चलकर इसपरंपरा का विकास रीतिकाल में जाकर सरस शृंगार काव्य रूपों में पाई गयी।

हम्मीर रासो :

'प्राकृत-पैंगलम्' में इस काव्य के कुछ छन्द मिले थे औ उन्हीं के आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसके अस्तित्व की कल्पना की थी। उनका अनुमान था कि इसमें हम्मीर और अलाउद्दीन के युद्धों का वर्णन तथा हम्मीर की प्रशंसा चित्रित होगी। किन्तु, राहुल जी ने उन पद्यों को जज्जल नामक किसी कवि की रचना घोषित किया है। डॉ हजारीप्रस द्विवेदी का कथन है कि 'हम्मीर' शब्द अमीर विकृत रूप है, जो किसी पात्र का नाम न होकर एक विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। अतः शार्ङ्गधर-कृत इस हम्मीर रासो का अस्तित्व संकट में पड़ा हुआ है। अभित इसकी कोई प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी है।

परमाल रासो :

उत्तरप्रदेश में 'आल्हखण्ड' के नाम से जो काव्य प्रचलि है, वही 'परमाल रासो' के मूल रूप का विकसित रूप माना जाता है। यह रासो लोक-गेय काव्य था, अतः इसकी मूल रूप की सुरक्षा नहीं हो सकी। इसमे अनेक अंश बाद में जोड़े गये हैं तथा अनेक अंशों में वर्णन और भाष संबंधी परिवर्तन किये गए हैं। धीरे-धीरे 'आल्ह' लोकगीत की एक शैली बन गया है। अतः आधुनिक विषयों पर भी 'आल्ह' लिखे जाने लगे हैं। 1865 ई० में चार्ल्स इलियट ने जिस 'आल्हखण्ड' का प्रकाशन कराया था, वह मौखिक परंपरा पर ही आधारित है। इसी प्रति के आधार पर डॉ श्यामसुंदर दास ने 'परमाल रासो' का पाठ निर्धारण किया और उसे नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित कराया। इस नये रूप में उपलब्ध 'परमाल रासो' यद्य सर्वथा प्रामाणिक कृति तो नहीं है, तथापि आदिकाल में रचित मूल 'परमालरासो' के ऐतिहासिक अस्तित्व को समझने में सहायक अवश्य है

'परमालो रासो' का रचयिता जगनिक नामक कवि माना जाता है, जे महोबा के राजा परमर्दिदेव का आश्रित था। उसने इस काव्य में आल्ह और ऊदल नामक दो वीर सरदारों की वीरतापूर्ण लड़ाइयों का वर्णन किया है। इस आधार पर 'परमाल रासो' का रचना-काल तेरहवीं शती का आरंभ माना जाता है। इसमें वीर-भावना का जितना प्रौढ़ रूप मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। आज भी जब इसे

गायक संगीत के साथ गाते हैं, तब दुर्बलों में भी तलवार चलाने की स्फूर्ति आ जाती है। विवाह और शत्रु-प्रतिशोध वीरता प्रदर्शन का आधा रहे हैं। युद्धों के अत्यन्त प्रभावशाली वर्णन इस काव्य के मुख्य विषय है। भावों के अनुसार ही भाषा भी चली है। गेयता का गुण इस काव्य को विकसनशील लोकगाथा-काव्य की श्रेणी में ले जाता है, किंतु इसकी रच लोकगाथा के रूप में न होकर शुद्ध काव्य के रूप में हुई थी।

भाषा की दृष्टि से इस काव्य का मूल्यांकन करना संभव न क्योंकि मूल रूप का कोई भी अंश शुद्ध रूप में सुरक्षित नहीं है। उसे अनेक प्रकार के परिवर्तन होते रहे हैं। छन्द-विधान की दृष्टि से इस काव्य की एक विशेष शैली है, जिसे आल्ह-शैली कहना ही उचित इसकी वर्णन-शक्ति और प्रभावोत्पादकता को समझाने में निम्नांकित पंक्तियाँ कुछ सहायक हो सकती हैं:

बारह बरस लौं कूकर जीवै, अरु तेरह लौं जियै सियार।
बरस अठारह क्षत्रिय जीवै, आगे जीवन कौं धिक्कार॥

पृथ्वीराज रासो:

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि "(चन्द) हिन्दी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं और इनका 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है"। उन्होंने चन्दबरदायी को दिल्ली-नरेश पृथ्वीराज चौहान का सामन्त और राजकवि माना है। महामहोपाध्याय पं. हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार चन्दबरदायी का जन्म लाहौर में हुआ था। इसके जन्मकाल को लेकर विद्वानों में मतभेद है। शुक्ल जी ने इनका जन्म 1168 ई. माना है तथा लिखा है, "रासो के अनुसार ये भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे। इनके पूर्वजों की भूमि पंजाब थी, जहाँ लाहौर में इनका जन्म हुआ था। इनका और महाराज पृथ्वीराज का जन्म एक ही दिन हुआ था और दोनों ने एक ही दिन यह संसार भी छोड़ा था।

शुक्ल जी ने हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्राप्त चंद का एक वंश-वृक्ष भ
प्रस्तुत किया है। वह वंश-वृक्ष शास्त्री जी को नानूराम भाट से प्र
हुआ था, जो स्वयं को चंद का वंशज मानता था। उसके कथनानु
चंद के चार पुत्र थे, जिनमें से चतुर्थ पुत्र जल्ल था। जिस समय
पृथ्वीराज को मुहम्मद गोरी बन्दी बनाकर अपने देश ले जा र
था, उस समय चन्द भी महाराज के साथ गया था तथा अपने पु
जल्ल को 'पृथ्वीराज रासो' सौंप गया था। इस संबंध में यह उक्ति
प्रसिद्ध है: "पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चलि गज्जन नृप काज"। और
यह भी कहा जाता है कि जल्ल ने चन्दबरदायी के अधूरे का
को पूरा किया था:

रघुनाथ चरित हनुमन्त कृत, भूप भोज उद्धरिय जिमि।
प्रथिराज सुजस कवि चन्द कृत, चन्द नन्द उद्धरिय तिमि।

यह बात प्रसिद्ध है कि चन्द ने स्वामी के लिए अपना बलिदान किया था। वह बहु
प्रतिभाशाली, दूरदर्शी, वीर तथा स्वामिभक्त कवि था। पृथ्वीराज उसे सदा
अपने सखा के समान साथ रखते थे एवं उसकी हर बात मानते थे।

'पृथ्वीराज रासो' के चार संस्करण प्रसिद्ध हैं। नागरीप्रचारिणी सभा,
काशी द्वारा प्रकाशित सबसे बड़ा संस्करण, जिसकी हस्तलिखित प्रतियाँ उदयपुर
के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। सभा ने 1885 ई. में लिखित प्रति के आधार पर
रासो का संपादन कराया था। इस संस्करण में 69 समय (खण्ड) तथा
16306 छन्द हैं। द्वितीय ... रूप में उपलब्ध पृथ्वीराज रासो
7000 छन्दों का काव्य माना जाता है। इसका प्रकाशन नहीं हुआ
किंतु अबोहर एवं बीकानेर में इसकी प्रतियाँ सुरक्षित हैं, जो सत्रहवीं
शताब्दी ईस्वी में लिखी गई हैं। तीसरा लघु संस्करण 3500 छन्दों का
है, जिसमें केवल 19 समय हैं। इस संस्करण की हस्तलिखित प्रतियाँ
भी बीकानेर में सुरक्षित हैं। चौथा संस्करण सबसे छोटा है, जिसमें
केवल 1300 छन्द हैं। इसी संस्करण को डॉ दशरथ शर्मा आदि कुछ
विद्वान् मूल रासो मानते हैं।

1.12.1,

'पृथ्वीराज रासो' ग्रंथ की प्रामाणिकता को लेकर विद्वानों में मतभे
है। विद्वानों में कई वर्ग बन गए हैं। पहला वर्ग वे हैं जो मानते हैं कि
पृथ्वीराज रासो का जो संस्करण सभा से प्रकाशित हुआ है, वही
प्रामाणिक है। इस वर्ग में डॉ श्यामसुन्दर दास, मोहनलाल विष्णुलाल
पंड्या, मिश्रबन्धु, कर्नल टॉड आदि हैं। दूसरे वर्ग में रामचन्द्र शुक्ल
कविराजा श्यामलदान, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, डॉ बूलर, मुंशी देवीप्र
आदि विद्वान हैं, जिनका मानना है कि 'रासो' सर्वथा अप्रमाणिक ग्रंथ है
आश्चर्य की बात है कि शुक्लजी इसे अप्रमाणिक मानने के बावजूद
उसे अपने ग्रंथ में आदिकाल के इतिहास में रखा है। तीसरे वर्ग के
विद्वान् वे हैं जो यह मानते हैं कि पृथ्वीराज चौहान के दरबारी क
चन्दबरदायी ने ही पृथ्वीराज रासो लिखा था, किंतु उसका मूलरूप
आजकल उपलब्ध नहीं है। इस वर्ग में मुनि जिनविजय, डॉ सुन
कुमार चटर्जी, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि विद्वान् हैं। चौथा वर्ग
नरोत्तमदास स्वामी का है, जो सबसे अलग यह बात कहते हैं
कि चंद ने पृथ्वीराज के दरबार में रहकर मुक्तक रूप में 'रासो'
की रचना की थी। उनके इस मत से कि 'रासो' प्रबंधकाव्य नहीं
था – अन्य कोई विद्वान् सहमत नहीं है।

वस्तुतः आरंभ में यह ग्रंथ विवादास्पद नहीं था।
कर्नल टॉड ने इसकी वर्णन शैली तथा काव्य सौंदर्य पर रीझकर
इसके लगभग 30 हजार छन्दों का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया
था। तासी भी इसकी प्रामाणिकता में संदेह नहीं करते थे। बंगाल
की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने इस ग्रंथ का मुद्रण भी आरंभ
कराया था। सन 1875 ई. में डॉ बूलर 'पृथ्वीराज विजय' ग्रंथ
के आधार पर इसे अप्रामाणिक रचना घोषित किया। फलस्वरूप
राजस्थान के कुछ इतिवृत्त-खोजियों – कविराजा मुरारिदान, श्यामलदा
गौरीशंकर हीराचंद ओझा आदि ने इस काव्य को अप्रामाणिक सिद्ध

करने के लिए सायास तर्क जुटाए। इन विद्वानों के तर्कों को डॉ दशरथ शर्मा ने निराधार सिद्ध करने का प्रयत्न किया। वस्तुत यह विवाद इतना उलझ गया कि अब तक कुछ विद्वान इसे अप्रामा कृति सिद्ध करने में डटे हुए हैं।

अप्रामाणिकता के लिए तर्क ये हैं —

१. 'रासो' में उल्लिखित घटनाएँ और नाम इतिहास से मेल नहीं स इसमें मार, चालुक्य और चौहान क्षत्रियों को अग्निवंशी माना ग है, जबकि वे सूर्यवंशी प्रमाणित हुए हैं।

२. पृथ्वीराज का दिल्ली गोद जाना, संयोगिता स्वयंवर आदि घटना इतिहास से मेल नहीं खातीं।

३. अनंगपाल, पृथ्वीराज तथा बीसलदेव के राज्यों के संदर्भ भी अशुद्ध हैं।

४. पृथ्वीराज की माँ का नाम कर्पूरी था, जो 'रासो' में कमला बताया है।

५. पृथ्वीराज की बहन पृथा का विवाह मेवाड़ के राणा समरसिंह के साथ बताया गया है, जो अशुद्ध है।

६. पृथ्वीराज द्वारा गुजरात के राजा भीमसिंह का वध भी इतिहास सम्मत नहीं है।

७. 'रासो' में पृथ्वीराज के चौदह विवाहों का वर्णन है, जो इतिहास से मेल नहीं खाता।

८. पृथ्वीराज के हाथों गोरी की मृत्यु की सूचना भी इतिहास सम्मत नहीं है।

९. पृथ्वीराज द्वारा सोमेश्वर का वध भी इतिहास सम्मत नहीं है

१०. 'रासो' में दी गई तिथियाँ अशुद्ध हैं। सभी तिथियों में इतिहास की तिथियों से प्रायः ६०–१०० वर्षों का अंतर है।

यदि उपर्युक्त तथ्यों को अंतिम प्रमाण मान लिया जाय तो 'पृथ्वीराज रासो' को अप्रामाणिक रचना कहा जा सकता है। परंतु दूसरे पक्ष

के तर्क भी इस संबंध में विचारणीय हैं —

१. डॉ दशरथ शर्मा का मत है कि इसका मूलरूप प्रक्षेपों में छिपा हु है। इधर जो लघुतम प्रतियाँ मिली हैं; उनमें इतिहास संबंधी अशु अशुद्धियाँ नहीं है।

२. घटनाओं में ६०-१०० वर्षों का जो अन्तर है, वह संवत् की भिन्नता के कारण है। मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने अनन्दसंव की कल्पना की है और उसके अनुसार तिथियाँ भी शुद्ध सिद्ध हो हैं।

३. डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि 'पृथ्वीराज रासो' में बारह शताब्दी की भाषा की संयुक्ताक्षरमयी अनुस्वारान्त प्रवृत्ति मिल है, जिससे यह बारहवीं शताब्दी का ग्रंथ सिद्ध होता है।

४. 'रासो' इतिहास ग्रंथ न होकर काव्य-रचना है, अतः इतिहास का सत्य खोजना और उसके न मिलने पर उसे अप्रामाणि घोषित करना अनुचित है।

५. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का यह मत है कि 'पृथ्वीराजरासे' की रचना शुक-शुकी-संवाद के रूप में हुई थी। अतः जि सर्गों में यह शैली नहीं मिलती, उन्हें प्रक्षिप्त मानना चाहि यदि यह तर्क मानलिया जाय, तो वे ही अंश प्रायः प्रक्षिप्त सि होते हैं। जिनमें इतिहास-विरुद्ध तथ्य हैं।

६. जिन लोगों ने 'रासो' में अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग देख उसे जाली ग्रंथ माना है, उनके विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि चन्द लाहौर का निवासी था। वहाँ उस समय मुसलमानों का प्रभाव आ चुका था, अतः उसकी भाषा में अरबी-फ़ारसी के शब्दों का मिश्रण होना सहज है।

उपरोक्त तर्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रक्षिप्तांशों या इतिहास-विरोधी कथनों के आधार पर 'पृथ्वीराज रासो' को अप्रमाणि मानना उचित नहीं है। चन्द ने पृथ्वीराज के जीवन की घटनाओं का जैसा सजीव वर्णन किया है, उसे देखकर यही कहा जा सकता है कि वह पृथ्वीराज का समकालीन कवि था, अतः रासो को अप्रमाणिक मानना उचित नहीं है। यदि इस विवाद में कोई सत्यांश झलकता भी है तो यह 'पृथ्वीराज रासो' में पर्याप्त प्रक्षिप्त अंशों का समावेश हुआ है।

पर्याप्त विवाद और मतभेदों के बावजूद 'पृथ्वीराज रासो' काव्य घटनाओं का कोश है। अतः इसे 'महाभारत' की तरह एक विशाल महाकाव्य माना जा सकता है। इस काव्य में दो रस प्र हैं - शृंगार और वीररस। ये दोनों रस पृथ्वीराज चौहान के चरि के दो पार्श्व उन्मुक्त करते हैं। वह . . जितना वीर है, उतना ही शृंगारप्रेमी भी है। कवि ने एक ओर तो युद्धों के वर्णन में वीर और पराक्रम की अद्भुत सृष्टि की है, दूसरी ओर रूप सौंदर्य और प्रेम के भी सरस चित्र उतारे हैं। दोनों रसों के केन्द्र में नारी है। उसे पाने के लिए युद्ध होते हैं और पा लेने पर जीवन का विलास-पक्ष अपनी पुरी रमणीयता के साथ उभरत है। ध्यान देने की बात है कि प्रेम और वीरता के सभी चित्रों कवि ने कुछ नैतिक मर्यादाओं का निर्वाह किया है, जिनके कारण रस की सात्विकता सुरक्षित रही है।

'पृथ्वीराज रासो' में वस्तुवर्णन का भी आधिक्य है। क ने बड़ी तन्मयता के साथ नगरों, वनों, सरोवरों, किलों आदि का वर्णन किया है। युद्ध-क्षेत्र के दृश्य तो अद्भुत प्रतिम का परिचय देते ही हैं, कवि ने समय और क्रिया को एक साथ बिंबों में बाँधकर रंग और ध्वनियों को भी रूपायित कर दिया है। वीर और शृंगार रसों के पोषण के लिए आवश्यकतानुसार अन्य रसों की भी योजना की गयी है और उनकी वर्णन में भी कवि ने उतनी तन्मयता दिखलायी है।

'पृथ्वीराज रासो' की भाषा के संबंध में भी विवाद रहा है। वस्तुतः यह काव्य पिंगल शैली में लिखा गया है जो ब्रजभाष का वह रूप है जिसमें राजस्थानी बोलियों का मिश्रण है। कवि ने तत्कालीन प्रचलित सभी शब्दों का स्वतंत्रता से प्रयोग किया है शब्द चयन रसानुकूल है, अतः वीर रस के चित्रणों में प्राकृत और अपभ्रंश के शब्द भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं। जहां तक

भाषा की शक्ति का प्रश्न है, कवि ने अभिधेय भाषा को भी पर्याप्त प्रभावशाली रूप दिया है। लाक्षणिक तथा ध्वन्यात्मक शब्दावली ने भी प्रायः भाषा सौंदर्य की वृद्धि की है। अलंकारों का चन्दबरदायी ने सहज प्रयोग किया है। शायद ही किसी अलंकार को उन्होंने छोड़ा हो। लगभग अड़सठ प्रकार के छन्दों में लिखा गया यह महाकाव्य सभी दृष्टियों से आदिकाल की एक श्रेष्ठ कृति सिद्ध होता है। इसमें भाव, वस्तु और ध्वनि की सम्मिलित प्रभावान्विति के उदाहरण देखिए :

बज्जिय घोर निसांन रान चौहान चहूँ दिसि।
सकल सूर सामन्त समर बल जंत्र मंत्र तिसि।
उट्ठि राज प्रथिराज बाग लग्ग मनहु वीर नट।
कढ़त तेग मन वेग लगत मनहु बीजु इनट्ठ घट॥

नारी सौंदर्य का भी एक चित्र वर्णन देखिए :

मनहुँ कला ससिभान कला सोलह सो बन्निय।
बाल बैस ससि ता समीप अमृत रस पिन्निय।
बिगसि कमल स्रिग भ्रमर नैनु खंजन मृग लुट्टिय।
हीर कीर अरु बिम्ब मोती नष सिख अहिघुट्टिय।
छत्रपति गयंद हरि हंस गति बिह बनाय संचै सचिय।
पद्मिनी रूप पद्मावतिय, मनहुँ काम कामिनि रचिय॥

1.13. लौकिक साहित्य :

आदिकालीन साहित्य में धार्मिक साहित्य और चारणों की प्रशस्तिपरक रचनाओं के अतिरिक्त एक भिन्न दूसरे प्रकार के साहित्य की लोकधारा भी प्रवाहशील थी। इस साहित्य की यह लोकधारा ही वास्तविक अर्थ में देशभाषा काव्य थी जो हिन्दी साहित्य के विकास के मूल में है। चारण साहित्य को जब राजाश्रय मिला तब उसमें शास्त्रीय रूढ़ियों जैसे तत्व भर गए; ऐसे में साहित्य में नूतनता का प्रादुर्भाव केवल लोकसाहित्य द्वारा संभव हो सकता था। लौकिक साहित्य ने जीवन की रची-बसी विषयवस्तु को अपने साहित्य का विषय बनाया, जिसमें जीवन के स्वाभाविक दशाओं का वर्णन है। लौकिक साहित्य के विभिन्न अंग केवल शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से ही अध्ययन के विषय न होकर सांस्कृतिक तथा समाजशास्त्र की दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में मुलतान, राजस्थान, दिल्ली, अवध और मिथिला से लौकिक साहित्य प्राप्त हुए हैं।

संदेश रासक :

'संदेश रासक' की रचना बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में हुई थी। इसकी रचना अपभ्रंश भाषा में हुई थी, परंतु वह अपभ्रंश भाषा बोलचाल के अधिक नजदीक थी। कवि अब्दुल रहमाण प्राकृत और अपभ्रंश की परंपरा के अच्छे जानकार थे, फिर भी वे अपनी रचना को बोलचाल की भाषा के अधिक नजदीक रखने का प्रयत्न करते हैं। बोलचाल की भाषा से जुड़ी होने के कारण ही संदेश-रासक में लोक-संवेदना का सहज विस्तार मिल गया है। 'संदेश रासक' दूत काव्य है। इसमें मंगलाचरण, आत्म-परिचय, ग्रंथ लिखने के औचित्य, षड्ऋतु वर्णन तथा रूप वर्णन जैसी शास्त्रीय रूढ़ियों की कमी नहीं है, फिर भी उसमें नारी की करुणा का संदेश मार्मिक है। इस काव्य में लोक-जीवन के सघन चित्र प्राप्त होते हैं। इस काव्य की मूल संवेदना गहरे

स्तर पर लोकानुभूतियों को स्पर्श करती है। इस काव्य में विरहिणी नायिका एक पथिक के माध्यम से अपनी विरहानुभूति का संदेश पति तक पहुँचान चाहती है। नायिका के विरह में प्रकृति का पूर्ण सहयोग है। प्रकृति के वर्णन में कवि की दृष्टि जहाँ ग्राम्य जीवन की ओर गई है, वे स्थल काव्य में बड़े मार्मिक हो गये हैं। काव्य में प्रकृति का बाह्य वर्णन प्राकृतिक वर्णन मात्र न होकर विरहिणी नायिका के हृदय का चित्र हो गय है।

ढोला मारू रा दूहा:

'ढोला मारू रा दूहा' की रचना ग्यारहवीं शताब्दी में पश्चिमी राजस्थान में हुई थी। कुशललाभ ने कृति में कुछ और चौपाइयों को जोड़कर काव्य-कृति को सुगठित आधार दिया यह रचना लोककथा के आधार पर की गई थी। इस काव्य-कृति में कथानक इस प्रकार बुना गया है कि कथा का मुख्य सूत्रधार राजकुमार ढोला ही प्रतीत होता है। उसका प्रथम विवाह मारवणी से होता है और दूसरी दूसरी लड़की पालवणी से प्रेम करता है। मारवणी विरह वेदना से त्रस्त है। अपने आंतरिक वेदना का संदेश राजकुमार ढोला तक पहुँचाना चाहत है। मारवणी के संदेश में उसके हृदय की तीव्र अनुभूति व्यक्त होती है। वस्तुतः यह काव्य पुरुष की स्वेच्छाचारिता को उद्घाटित करता है और उसके साथ ही नारी जीवन की पराधीनता और विवशता के ओर भी ध्यान आकृष्ट करता है। चूँकि 'ढोला मार रा दूहा' लोककथा है, इसलिए इसमें लोकजीवन और प्रकृति के आत्मीय रिश्तों को भी रेखांकित किया गया है। इस काव्य में नारी जीवन की आशाएँ, स्मृतियाँ तथा चिंताएँ ऋतु की संवेदनाओं के साथ जुड़ जाती हैं। मारवणी के वियोग में प्रकृति पूर्ण सहयोगी बनकर उपस्थित होती है।

जयचन्द-प्रकाश और जयमयंक-जसचन्द्रिका :

इन कृतियों का उल्लेख 'राठौड़ाँ री ख्यात' में मिलता है, अभी तक ये उपलब्ध नहीं हुई हैं। कहा जाता है कि प्रथम कृति की रचना भट्ट केदार नामक कवि ने की थी। रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार यह एक महाकाव्य था, "जिसमें महाराज जयचंद के प्रताप और पराक्रम का वर्णन था"। इस प्रकार दूसरी कृति की रचना 1988 में मधुकर कवि ने की थी। ये दोनों ही ग्रंथ अभीतक उपलब्ध नहीं हुए हैं। किंतु 'राठौड़ाँ री ख्यात में यह उल्लेख मिलता है कि ख्यातिया ने इन्हीं ग्रंथों के आधार पर कनौज तक का वृत्तांत लिखा था। अत इन कृतियों की रचना तो अवश्य हुई होगी, किंतु ये सुरक्षित नहीं रह सकीं।

वसन्त-विलास :

माताप्रसाद गुप्त के शब्दों में, "यह एक अत्यधिक सरस साहित्यिक कृति है, और आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा-साहित्य के आदिकाल के इतिहास में बेजोड़ है।" यह रचना सर्वप्रथम 1952ई में हाजी मुहम्मद स्मारक ग्रंथ में प्रकाशित हुई थी। श्री केशवलाल हर्षादराय इसके प्रथम संपादक थे। उन्होंने 1451ई की एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर इसका संपादन किया था। इससे इस कृति की रचना का काल 1451ई के पूर्व होना चाहिए। डॉ माताप्रसाद गुप्त ने विभिन्न प्रमाण देकर यह मत निर्धारित किया है कि "यह रचना अधिक-से-अधिक विक्रमीय चौदहवीं शती के मध्य ईस्वी तेरहवीं शती - की होनी चाहिए"।

इस कृति के रचयिता का पता नहीं चल सका है। इसमें चौरासी दोहों में वसंत, और स्त्रियों पर उनके विलासपूर्ण प्रभाव का मनोहारी चित्रण किया गया है। इस काव्य में प्रकृति और नारी दोनों का मदोन्मत स्वरूप शृंगार रस की तीव्र धारा

प्रवाहित करता है। इस कृति में आदिकाल के जनजीवन का वह सरस पक्ष उभरता है, जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि तत्वों की सनसनाहट के आधिक्य के कारण नहीं सुन पाये थे। स्त्री-पुरुष-प्रकृति - तीनों में अजस्र बहती ... मदोन्मत्तता का इस काव्य में जैसा चित्रण मिलता है, वैसा रीतिकालीन हिन्दी-कवि भी नहीं कर सके। इस काव्य की भाषा से ही पिंगल सरस ब्रजभाष का रूप लेती प्रतीत होती है।

1.14. गद्य रचनाएं :

आदिकालीन हिन्दी साहित्य में देश के विविध भागे में विविध प्रकार की गद्य रचनाएं भी हो रही थी। गद्य रचना में जीवन और समाज की वास्तविकता को प्रकट करने की शक्ति होती है आदिकाल में जितने प्रकार के गद्य रचनाएं मिलती हैं, उसमें कहीं नक तत्कालीन जीवन की यथार्थताओं का वर्णन है। इस युग की रचनाओं में दामोदर भट्ट रचित उक्ति व्यक्ति प्रकरण (12वीं शताब्दी), ज्योति -रीश्वर ठाकुर की कृति 'वर्ण रत्नाकर' (14वीं शताब्दी) ... आदि हैं।

रोड़ा कृत राउलवेल (10वीं शताब्दी)

राउलवेल :

यह गद्य-पद्य-मिश्रित चम्पु-काव्य की प्राचीनतम हिन्दी कृति है। आरंभ में कवि ने पद्य का प्रयोग किया और फिर गद्य का प्रयोग किया। इस कृति की रचयिता रोड़ा नामक कवि माना जाता है 'राउलवेल' को हिन्दी में ... नखशिख-वर्णन शृंगार परंपरा आरंभ होती है। इसकी भाषा में हिन्दी की सात बोलियों के शब्द मिलते हैं, जिनमें राजस्थानी प्रमुख है। कवि ने विषय-वर्णन बड़ी तन्मयता के साथ किया। उसने उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग करके रूप वर्णन को प्रभावशाली बना दिया है।

उक्ति - व्यक्ति - प्रकरण :

महाराज गोविन्दचन्द्र के सभा-पण्डित दामोदर शर्मा ने बारहवीं शताब्दी में इस पुस्तक की रचना की थी। डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "'उक्ति - व्यक्ति - प्रकरण' एक अत्यन्त महत्व व्याकरण-ग्रन्थ है। इससे बनारस और आसपास के प्रदेशों की संस्कृ और भाषा आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और उस ~~व्यवस्थ~~ युग के काव्य रूपों के संबंध में भी थोड़ी बहुत जानकारी प्राप्त होती है"। डॉ मोतीचन्द भी इस मत का समर्थन करते हैं। इस ग्रंथ की भाषा का एक उदाहरण इस प्रकार है: "वेद पढ़ब, स्मृति अभ्यासिब, पुराण देखब, धर्म करब।" इससे गद्य और पद्य दोनों शैलियों की हिन्दी भाषा में तत्सम् शब्दावली के प्रयोग की बढ़ती हुई प्रवृत्ति का पता चलता है। उस समय हिन्दी व्याकरण की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा था, यह बात इस ग्रंथ से सिद्ध होती है।

वर्णरत्नाकर :

डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी और पंडित बबुआ मिश्र के संपादन में मैथिली हिन्दी में रचित यह गद्य की पुस्तक बंगाल एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित हो चुकी भी है। डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार इसकी रचना काल चौदहवीं शताब्दी में हुई होगी। इसका लेखक मैथिल कवि ज्योतिरीश्वर ठाकुर हैं। इसकी भाषा में कवित्व आलंकारिकता तथा शब्दों की तत्समता की प्रवृत्तियां मिलती हैं। यह एक शब्द-कोश-सा प्रतीत होता है। हिन्दी गद्य के विकास में 'राउलवेल' के पश्चात् वर्णरत्नाकर का योगदान कम नहीं है। निश्चय ही इन कृतियों के अतिरिक्त अन्य गद्य-रचनाएं लिखी गई होंगी, परंतु विभिन्न कारणों से अब वे उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी, ये कृतियां गद्य-धारा के प्रवाह की अखण्डता को सिद्ध करती ही हैं।

1.15. # अमीर खुसरो :

अमीर खुसरो बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्हें विविध विधाओं में निपुणता हासिल थी। इतिहास, कविता, संगीत आदि विविध विषयों पर उन्होंने लेखनी चलाई। वे कई भाषाओं को जानते थे। पारसी, उर्दू, ब्रजभाषा, खड़ी बोली तथा कई अन्य भाषाओं में वे लिख सकते थे। खुसरो मिलनसार तथा खुशमिज़ाज़ आदमी थे। उन्होंने जनता में प्रचलित पद्य, पहेलियों तथा मुकरियों को अपनाया। उनके दोहे तथा पहेलियों में एक खास प्रकार की तुकबंदी है। कहीं-कहीं उन्होंने फारसी और ब्रजभाषा की संगीतात्मक ध्वनि को एक-साथ पिरो दिया। दो भिन्न भाषाओं और संस्कृतियों के द्वंद्व को एक-साथ मिलाने का असाधारण कार्य उन्होंने किया है।

जे हाल मिसकी मकुन तगाफुल दुराय नैना बनाय बतियां।
कि ताबे हिजां न दारम ऐ जां! न लेहु काहे लगाय छतियां।
शबाने हिजां दराज चूं जुल्फ व रोजे वसलत चूं उम्र कोतह।
सखी! पिया को जो मैं न देखूं तो कैसे काटूं अंधेरी रतियां।

खुसरो के काव्य में सामान्य मानव की सहजता है। अमीर खुसरो दरबार के फारसी पांडित्य से अलग लोकभाषा में जनता की अनुभूति को अभिव्यक्त करते हैं। उन्होंने जनता की भाषा को अपना बनाया था, इसलिए जनता भी उन्हें आजतक नहीं भूली है। मध्यदेश की भाषा खड़ी बोली और ब्रजभाषा के विकास को समझने में खुसरो की रचनाओं से काफी मदद मिलती है। रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि काव्यभाषा का ढांचा अधिकतम शौरसेनी या पुरानी ब्रजभाषा का ही बहुत काल से चला आता था। अतः जिन पश्चिमी प्रदेशों की बोलचाल खड़ी होती थी, उनमें भी जनता के बीच प्रचलित पदों, तुकबंदियों आदि की भाषा ब्रजभाषा की ओर झुकी रहती थी। अब भी यह बात पायी जाती है। इसी से खुसरो की हिन्दी रचनाओं में भी दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। ठेठ खड़ी बोलचाल की भाषा पहेलियों, मुकरियों और दो सुखनों में ही मिलती है। यद्यपि उनमें भी कहीं-कहीं ब्रजभाषा की झलक है। पर गीतों और दोहों की भाषा ब्रज या मुख प्रचलित काव्यभाषा ही है। मध्यदेश के जनमानस में प्रचलित भाषा और जनता की सोच को जानने के लिए आदिकालीन हिन्दी साहित्य में खुसरो का महत्व अतुलनीय है।

1.16. विद्यापति :

विद्यापति का रचनाकाल चौदहवीं शताब्दी था। उ: काल की देशभाषा को अपभ्रंश में मिलाकर रचने की प्रवृत्ति प्रचा थी। विद्यापति ने भी इन रूढ़ियों का पालन किया, परंतु उनके क में देशभाषा का स्वतंत्र विकास भी देखने को मिलता है। अपभ्र मिश्रित लोकभाषा जिसे विद्यापति ने अवहट्ठ कहा है, तथा मिथि -चल प्रदेश में प्रचलित लोकभाषा मैथिली दोनों ही भाषाओं में विद्यापति ने रचना की। विद्यापति की स्पष्ट मान्यता थी —

देसिल बअना सब जन मिट्ठा। ते तैसन जपओं अवहट्ठा।

अर्थात् देशी भाषा सबको मिठी लगती है, इससे वैसा ही अपभ्रंश में कहता हूँ। विद्यापति दो भाषाओं को स्वीकार करते हुए भी देशभाषा को प्रमुख मानते हैं। परंतु राजाश्रित कवि होने के कारण दरबार में भाषा अपभ्रंश थी, और इसी में वे 'कीर्तिलता' और कीर्तिपताका को अपभ्रंश या अवहट्ठ में लिखे। विद्यापति की भाषा में लोक-अनुभूति और लोक-अनुभव का आधार इतना गहरा था कि उससे उनकी अवहट्ठ रचनाएँ भी प्रभावित हुई। इस अपभ्रंश की विशेषता यह है कि उसमें देशभाषा का कुछ अधिक प्रभाव है। यह अपभ्रंश भाष प्राकृत की रूढ़ियों से बंधी हुई प्रतीत नहीं होती। वस्तुतः विद्यापति के सामने कविता की दो धाराएँ थीं:- एक प्राचीन मैथिली की और दूसरी उत्तरकालीन अवहट्ठ की। विद्यापति ने दोनों प्रकार के भाषाओं को मिलाकर एक नई शैली की उद्भावना की।

विद्यापति के शृंगार वर्णन की बहुत बड़ी विशेषता है कि उन्होंने अपने शृंगार वर्णन को सामंती शृंगार के सौंदर्य के उपभोग पक्ष से अलग रखा है। उनके शृंगारिक मनोभाव में लोकजीवन की सहजता है। उनके काव्य में किशोर और किशोरियों के प्रेम का सहज आकर्षण है, नवयौवन की चंचलता है और भावों की ऊहापोह है।

मिथिला में विद्यापति ने जिस तान को छेड़ा उसका प्रभाव मिथिला ही सीमित न होकर असम, बंगाल, ओड़िशा तक जा पहुँचा। वस्तु मिथिला पूर्वी संस्कृति का केन्द्र था। मिथिला में गीतिकाव्य और दर्श की दो धाराएँ एक साथ प्रवाहित हो रही थीं। विद्यापति का संबंध इन दो धाराओं से था। पूरब के लोग मिथिला में पढ़ने-लिखने और कार्य करने आते थे। जब वे लौटते तो अपने साथ मिथि के गीत और भजन भी ले जाते थे। इसी तरह से विद्यापति की कविताओं का प्रसार असम, बंगाल और ओड़िशा में हुआ। मैथि कोकिल की लयात्मक चेतना और गीतात्मक संवेदना से संपूर्ण पूर्वी भारत आनंदित हो उठा। एक ~~एक~~ उदाहरण –

नंदक नंदन कदम्बक तरु तरे
धीरे-धीरे मुरली बजाय
समय संकेत निकेतन बैसल
बेरि-बेरि बोलि पठाव।

1.17. सारांश :

आदिकाल में हिन्दी भाषा साहित्यिक अपभ्रंश के साथ-साथ चलती हुई क्रमशः जनभाषा के रूप में साहित्यिक रचना का माध्यम बन रही थी। कभी अपभ्रंश के नाम पर हिन्दी का आरंभिक साहित्य छोड़ दिया गया और कभी पुरानी हिन्दी के नाम पर अपभ्रंश का परवर्ती साहित्य भी हिन्दी साहित्य में सम्मिलित कर लिया गया है। परंतु नयी खोजों से यह धारणा स्पष्ट हो चुकी है कि जनभाषा के रूप में हिन्दी आठवीं शताब्दी में ही साहित्य का माध्यम बन चुकी थी तथा वह अपभ्रंश के साथ अपनी भूमि पर आगे भी बढ़ने लगी थी। फलस्वरूप अपभ्रंश में साहित्य लिखने वाले कवि अवसर पाकर हिन्दी में भी कविता किया करते थे। दोनों भाषाओं में यह स्पर्धा भक्तिकाल के आरंभ तक चलती रही और अंत में एक दिन ऐसा भी आया जब अपभ्रंश को छोड़कर सभी कवि हिन्दी के मार्ग पर चलने लगे। आदिकालीन साहित्य में प्रयुक्त हिन्दी की यह बहुत बड़ी शक्ति है, जो उसकी संप्रेषण-क्षमता की सूचना देती है। एक विशाल क्षेत्र की अनेक बोलियों से उसका एक सामान्य रूप विकसित हो रहा था। आदिकालीन साहित्यिक भाषा भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों में रमते हुए भी सभी हिन्दी कवियों की प्रतिभा एकत्व का आभास दे रही थी। अनजाने में ही उन सबका एक ऐसा प्रयोग चल रहा था, जिसके फलस्वरूप समस्त हिन्दी क्षेत्र की बोलियां अपनी सांस्कृतिक एकता की स्थापना कर सकें। सम्भवतः इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कविगण संस्कृत से तत्सम शब्द लेकर अपनी भाषा में प्रयुक्त करने लगे थे। फलस्वरूप पन्द्रहवीं शताब्दी का अंत होते-होते हिन्दी का वह रूप उभरा जो समस्त देश की सांस्कृतिक भाषा बन गयी। तत्कालीन जीवन की भावभूमि का साथ देनेवाली शब्दावली सरल रूप में भी सशक्त होती जा रही थी। आदिकालीन साहित्य की भाषा एक ओर रूप भेद होने पर भी अभेद है, दूसरी ओर संप्रेषण क्षमता में भी वह बेजोड़ है। आदिकालीन कवियों का रूपात्मक एकता का प्रयोग, जो पन्द्रहवीं शताब्दी तक पहुँचते पहुँचते पूर्ण सफल हो चुका था, इतिहास से बिताया नहीं जा सकता।

1.18. अभ्यास प्रश्न :

1. रासो काव्य की पृष्ठभूमि का विवेचन कीजिए।
2. आदिकालीन लौकिक साहित्य पर एक निबंध लिखिए।
3. पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर प्रकाश डालिए।
4. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :
   1. अमीर खुसरो
   2. विद्यापति
   3. गद्य रचनाएं।